

तुलसी प्रज्ञा

TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 33 • अंक 131 • अप्रैल-जून, 2006

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
(मान्य विश्वविद्यालय)

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN
(DEEMED UNIVERSITY)

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-131

APRIL — JUNE, 2006

Patron

Sudhamahi Regunathan
Vice-Chancellor

Editor in

Hindi Section

Dr Mumukshu Shanta Jain

English Section

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial-Board

Dr Mahavir Raj Gelra, Jaipur
Prof. Satya Ranjan Banerjee, Calcutta
Dr R.P. Poddar, Pune
Dr Gopal Bhardwaj, Jodhpur
Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun
Dr Bachh Raj Dugar, Ladnun
Dr Hari Shankar Pandey, Ladnun
Dr J.P.N. Mishra, Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-131

APRIL — JUNE, 2006

Editor in Hindi

Dr Mumukshu Shanta Jain

Editor in English

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial Office

Tulsī Prajñā, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

LADNUN-341 306, Rajasthan

Publisher : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Type Setting : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Printed at : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015, Rajasthan

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

अनुक्रमणिका/CONTENTS

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
जैन तत्त्वमीमांसा की विकासयात्रा ऐतिहासिक ...	प्रो. सागरमल जैन	1
जैन वाङ्मय में अष्टमंगल - एक विवेचन	डॉ. हरिशंकर पाण्डेय	11
भारतीय दर्शन में कारण-कार्यवाद	डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी	27
जैन आगमों में वाणी-विवेक के सूत्र	मुनि विनोद कुमार	39
भारतीय संस्कृति में श्रमण संस्कृति का योगदान	योगेश कुमार जैन	51
गाँधी एवं मार्क्स : एक विश्लेषण	ओम कंवर राठौड़	61

अंग्रेजी खण्ड

Subject	Author	Page No.
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	77
Some problems raised by the ...	Sten Konow	89

श्रद्धा की भाषा

श्रद्धा ज्ञान की परिपक्व दशा का नाम है। ज्ञान के अभाव में जो श्रद्धा होती है वह यथार्थ में श्रद्धा नहीं होती, किन्तु एक संस्कारगत रूढ़ि होती है।

व्यक्ति में सबसे बड़ा बल श्रद्धा का है। श्रद्धा टूटती है तब पैर थम जाते हैं, वाणी रूक जाती है और शरीर जड़ हो जाता है। श्रद्धा बनती है तब ये सब गतिशील बन जाते हैं।

समस्या के समाधान का सबसे बड़ा सूत्र है श्रद्धा। किसी भी विवाद का अन्त तर्क से नहीं होता, किन्तु श्रद्धा से होता है। श्रद्धा जीवन की सबसे बड़ी सफलता है।

— अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ

जैन तत्त्वमीमांसा की विकासयात्रा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

— प्रो. सागरमल जैन

जैन धर्म मूलतः आचार प्रधान है, उसमें तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं का विकास भी आचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है। उसके तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं में मुख्यतः पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य, षट्जीवनिकाय और सप्त तत्त्वों की अवधारणा प्रमुख है। परम्परा की दृष्टि से तो ये सभी अवधारणायें अपने पूर्ण रूप से सर्वज्ञ प्रणीत और सार्वकालिक है, किन्तु साहित्यिक साक्ष्यों की दृष्टि से विद्वानों ने कालचक्र में इनका विकास माना है। प्रस्तुत आलेख में कालचक्र में निर्मित ग्रन्थों के आधार पर इनकी विकासयात्रा को चित्रित किया गया है।

अस्तिकाय की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटकों के रूप में पंचास्तिकायों की अवधारणा जैनदर्शन की अपनी मौलिक विचारणा है, पंचास्तिकायों का उल्लेख आचारांग में अनुपलब्ध है, किन्तु ऋषिभाषित (ई.पू. चतुर्थ शती) के पार्श्व अध्ययन में पार्श्व की मान्यताओं के रूप में पंचास्तिकाय का वर्णन है। इससे फलित होता है कि यह अवधारणा कम से कम पार्श्वकालीन (ई.पू. आठवीं शती) तो है ही। महावीर की परम्परा में भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम हमें इसका उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन में अस्तिकाय का तात्पर्य विस्तारयुक्त अस्तित्ववान् द्रव्य से है। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल को अनेक द्रव्य माना गया है। ई. सन् की तीसरी शती से दसवीं शती के मध्य इस अवधारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता है, मात्र षट्द्रव्यों की अवधारणा के विकास के साथ-साथ काल को अनस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इतना स्पष्ट है कि ई. सन्

की तीसरी-चौथी शती तक अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पूर्व यह विवाद प्रारम्भ हो गया था कि काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाये या नहीं। विशेषावश्यकभाष्य के काल तक अर्थात् ईसा की सातवीं शती तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करने के संबंध में मतभेद था। कुछ जैन दार्शनिक काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते थे और कुछ उसे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे, किन्तु बाद में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में अस्तिकाय और द्रव्य की अवधारणाओं का समन्वय करते हुए काल को अनस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार कर लिया गया।

यह स्पष्ट है कि अस्तिकाय की अवधारणा जैनों की मौलिक अवधारणा है। किसी अन्य दर्शन में इसकी उपस्थिति के संकेत नहीं मिलते। मेरी दृष्टि में प्राचीन काल में अस्तिकाय का तात्पर्य मात्र अस्तित्व रखने वाली सत्ता था, किन्तु आगे चलकर जब अस्तिकाय और अनस्तिकाय ऐसे दो प्रकार के द्रव्य माने गये तो अस्तिकाय का तात्पर्य आकाश में विस्तार युक्त द्रव्य से माना गया। पारम्परिक भाषा में अस्तिकाय को बहु-प्रदेशी द्रव्य भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य यही है कि जो द्रव्य आकाश क्षेत्र में विस्तारित है, वही 'अस्तिकाय' है।

पंचास्तिकाय

जैन दर्शन में वर्तमान काल में जो षड्द्रव्य की अवधारणा है, उसका विकास इसी पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। पंचास्तिकायों में काल को जोड़कर लगभग प्रथम-द्वितीय शती में षड्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई है। जहां तक पंचास्तिकाय की अवधारणा का प्रश्न है वह निश्चित ही प्राचीन है, क्योंकि उसका प्राचीनतम उल्लेख हमें 'इसिभासियाई' के पार्श्व नामक अध्ययन में मिलता है। ऋषिभाषित की प्राचीनता निर्विवाद है। पं. दलसुखभाई का यह कथन है कि "पंचास्तिकाय की अवधारणा परवर्ती काल में बनी है"— इतना ही सत्य है कि महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचनाकाल तक इस अवधारणा का उल्लेख नहीं है, क्योंकि मूल में यह अवधारणा पार्श्वपत्नों की थी। जब पार्श्व के अनुयायियों को महावीर के संघ में समाहित कर लिया गया, तो उसके साथ ही पार्श्व की अनेक मान्यताएँ भी महावीर की परम्परा में स्वीकृत की गयी। इसी क्रम में यह अवधारणा महावीर की परम्परा में स्पष्ट रूप से मान्य हुई।

भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम यह कहा गया कि लोक—धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल रूप है। ऋषिभाषित में तो मात्र पाँच अस्तिकाय है— इतना ही निर्देश है,

उनके नामों का भी उल्लेख नहीं है। चाहे ऋषिभाषित के काल में पंचास्तिकायों के नाम निर्धारित हो भी चुके हों, किन्तु फिर भी उनके स्वरूप के विषय में वहां कोई भी सूचना नहीं मिलती है। यह भी स्पष्ट है कि धर्म-अधर्म आदि पंच अस्तिकायों का जो अर्थ आज है, वह कालक्रम में विकसित हुआ है। भगवतीसूत्र में ही हमें ऐसे दो सन्दर्भ मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में धर्म अस्तिकाय और अधर्म अस्तिकाय का अर्थ गति और स्थिति में सहायक द्रव्य नहीं था। भगवतीसूत्र के ही बीसवें शतक में धर्मास्तिकाय के जो पर्यायवाची दिये गये हैं, उनमें अट्टारह पाप स्थानों से विरति, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के पालन को ही धर्मास्तिकाय कहा गया है। इसी प्रकार प्राचीनकाल में अट्टारह पापस्थानों के सेवन को तथा पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का परिपालन नहीं करने को ही अधर्मास्तिकाय कहा जाता था।

इसी प्रकार भगवतीसूत्र के सोलहवें शतक में यह प्रश्न उठाया गया कि लोकान्त में खड़ा होकर कोई देव आलोक में अपना हाथ हिला सकता है या नहीं? इसका न केवल नकारात्मक उत्तर दिया गया अपितु यह भी कहा गया कि गति की सम्भावना जीव और पुद्गल में है और आलोक में जीव और पुद्गल का अभाव होने से ऐसा सम्भव नहीं है। यदि उस समय धर्मास्तिकाय को गति का माध्यम माना गया होता तो पुद्गल का अभाव होने पर वह ऐसा नहीं कर सकता, इस प्रकार के उत्तर के स्थान पर ऐसा कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण वह ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में मुक्त आत्मा के आलोक में गति न होने का कारण आलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव ही बताया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि धर्मास्तिकाय गति में सहायक द्रव्य है और अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक द्रव्य है- यह अवधारणा एक परवर्ती घटना है, फिर भी इतना निश्चित है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक अर्थात् तृतीय शताब्दी के उत्तरार्ध और चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध में यह अवधारणा अस्तित्व में आ गई थी। भगवती आदि में जो पूर्व संदर्भ निर्दिष्ट किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल अर्थात् ई.पू. तीसरी-चौथी शती तक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अर्थ धर्म और अधर्म की ही अवधारणाएँ थी।

नवतत्त्व की अवधारणा :-

पंचास्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा के समान ही नवतत्त्वों की अवधारणा भी जैन परम्परा की अपनी मौलिक एवं प्राचीनतम अवधारणा है। इस अवधारणा के मूल बीज आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम में भी मिलते हैं। उसमें सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि (मोक्ष), असिद्धि (बंधन) आदि के अस्तित्व

को मानने वाली एकान्तिक विचारधाराओं के उल्लेख हैं।¹ इस उल्लेख में आस्रव-संवर, पुण्य-पाप तथा बंधन-मुक्ति के निर्देश हैं, वैसे आचारांग सूत्र में जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष - ऐसे नवों तत्त्वों के उल्लेख प्रकीर्ण रूप में मिलते हैं, किन्तु एक साथ ये नौ तत्त्व हैं - ऐसा उल्लेख नहीं है।

सूत्रकृतांग में अस्ति और नास्ति की कोटियों की चर्चा हुई है। उसमें जिन्हें अस्ति कहना चाहिए, उनका निर्देश भी है। उसके अनुसार जिन तत्त्वों को अस्ति कहना चाहिए, वे निम्न हैं- लोक, अलोक, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अक्रिया, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, चतुरंग संसार, देव, देवी, सिद्धि, असिद्धि, सिद्धनिजस्थान, साधु, असाधु, कल्याण और पाप।

इस विस्तृत सूची का संकोच सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में हुआ है। जहां जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अधिकरण, बंध और मोक्ष का उल्लेख है। पं. दलसुखभाई मालवणिया का मानना है कि इसमें से वेदना, क्रिया और अधिकरण को निकालकर आगे नौ तत्त्वों की अवधारणा बनी होगी जिसका निर्देश हमें समवायांग² (9) और उत्तराध्ययन³ (28,14) में मिलता है। उन्हीं नौ तत्त्वों में से आगे चलकर ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उमास्वाति ने पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके सात तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। इन सात अथवा नौ तत्त्वों की चर्चा हमें परवर्ती सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों के ग्रन्थों में मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनों में सात तत्त्वों की अवधारणा भी पंच-अस्तिकाय की अवधारणा से ही एक कालचक्र में लगभग ईसा की तीसरी-चतुर्थी शती में अस्तिकाय में आयी है। सातवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य जो मुख्य काम इन अवधारणाओं के सन्दर्भ में हुआ वह यह कि उन्हें सम्यक् प्रकार से व्याख्यायित किया गया और उनके भेद-प्रभेद की विस्तृत चर्चा की गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में षड्द्रव्य सात या नौ तत्त्व और षड्जीव निकाय की अवधारणा का जो विकास हुआ है उसके मूल में भी जीव और पुद्गल मुख्य है, क्योंकि ये जीव की कर्मपुद्गलों के साथ सम्बन्ध को सूचित करते हैं। कर्म पुद्गलों का जीव की ओर आना आस्रव है, जो पुण्य या पाप रूप होता है। जीव के साथ कर्म पुद्गलों का संश्लिष्ट होना बंध है। कर्म पुद्गलों का आगमन रुकना संवर है और उनका आत्मा जीव से अलग होना निर्जरा है। अन्त में कर्म पुद्गलों का आत्मा से पूर्णतः विलग होना मोक्ष है। इतना निश्चित है कि जैन आचार्यों ने पंचास्तिकाय की अवधारणा का अन्य दर्शन परम्पराओं में विकसित द्रव्य की अवधारणा से समन्वय करके षड्द्रव्यों की

अवधारणा का विकास किया। अग्रिम पंक्तियों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि षड्द्रव्यों की अवधारणा का और विशेष रूप से द्रव्य की परिभाषा को लेकर जैन दर्शन में कैसे विकास हुआ है ?

द्रव्य की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटक को ही सत् या द्रव्य कहा जाता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में जिसे सत् कहा जाता था वही आगे चलकर द्रव्य के रूप में माना गया। जिन्होंने विश्व के मूल घटक को एक, अद्वय और अपरिवर्तनशील माना उन्होंने सत् शब्द का ही अधिक प्रयोग किया। भारतीय चिन्तन वेदान्त में सत् शब्द का प्रयोग हुआ, जबकि उसकी स्वतन्त्र धाराओं यथा- न्याय, वैशेषिक आदि में द्रव्य और पदार्थ शब्द अधिक प्रचलन में रहा, क्योंकि द्रव्य शब्द ही परिवर्तनशीलता का सूचक है। जहां तक जैनदर्शन का प्रश्न है आचारांग में दवी (द्रव्य) शब्द का प्रयोग तो उपलब्ध होता है किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में नहीं है अपितु द्रवित के अर्थ में है।¹

द्रव्य शब्द का प्रयोग प्राचीन स्तर के आगमों में सर्वप्रथम उत्तराध्ययन में मिलता है। उत्तराध्ययन के वे अध्ययन जिनमें द्रव्य का विवेचन है, अपेक्षाकृत परवर्ती माने जाते हैं। वहां न केवल द्रव्य शब्द का प्रयोग हुआ है अपितु द्रव्य, गुण और पर्याय के पारस्परिक संबंध को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया गया है। उसमें द्रव्य को गुणों का आश्रयस्थल माना गया है। मेरी दृष्टि में उत्तराध्ययन की द्रव्य की यह परिभाषा न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित लगती है। पूज्यपाद द्वारा देवन्दी ने पांचवी शताब्दी में अपनी तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में गुणों के समुदाय को ही द्रव्य कहा है। इसमें द्रव्य और गुण की अभिन्नता पर अधिक बल दिया गया है। पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत यह चिन्तन बौद्धों के पंच स्कन्धवाद से प्रभावित है।

यद्यपि यह अवधारणा पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में ही सर्वप्रथम मिलती है, किन्तु उन्होंने “गुणानां समूहो द्रव्यो” इस वाक्यांश को उद्धृत किया है। अतः यह अवधारणा पांचवी शती से पूर्व की है। द्रव्य की परिभाषा के संबंध में ‘द्रव्य गुणों का आश्रयदान’ है और ‘द्रव्य गुणों का समूह है’ - ये दोनों ही अवधारणाएँ मेरी दृष्टि में तीसरी शती से पूर्व की है। इस संबंध में जैनों की अनेकान्तिक दृष्टि से की गयी सर्वप्रथम परिभाषा हमें ईसा की चतुर्थ शती के प्रारम्भ में तत्त्वार्थसूत्र में मिलती है। जहां द्रव्य को गुण और पर्याययुक्त कहा गया है। इस प्रकार द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में अनेकान्तिक दृष्टि का प्रयोग सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है।

षट्द्रव्य :-

यह तो हम स्पष्ट कर चुके हैं कि षट्-द्रव्यों की अवधारणा का विकास पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। लगभग प्रथम-द्वितीय शताब्दी में ही पंचास्तिकायों के साथ काल को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानकर षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई। यद्यपि काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं? इस प्रश्न पर लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक यह विवाद चलता रहा है, जिसके संकेत हमें तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मान्य पाठ से लेकर विशेषावश्यक भाष्य तक अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि सातवीं शताब्दी के पश्चात् यह विवाद समाप्त हो गया और श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में षट्द्रव्यों की मान्यता पूर्णतः स्थिर हो गई। उसके पश्चात् उसमें कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

ये षट्द्रव्य निम्न हैं- धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल और काल। आगे चल कर इन षट्द्रव्यों का वर्गीकरण अस्तिकाय-अनास्तिकाय, चेतन-अचेतन अथवा मूर्त-अमूर्त के रूप में किया जाने लगा। अस्तिकाय और अनस्तिकाय द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म-अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल- इन पांच को अस्तिकाय और काल को अनस्तिकाय द्रव्य माना गया। चेतन-अचेतन द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल को अचेतन द्रव्य और जीव को चेतन द्रव्य माना गया है। मूर्त और अमूर्त द्रव्यों की अपेक्षा से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अमूर्त द्रव्य और पुद्गल को मूर्त द्रव्य माना गया है।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि विद्वानों ने यह माना है कि जैन दर्शन में द्रव्य की अवधारणा का विकास न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित है। जैनाचार्यों ने वैशेषिक दर्शन की द्रव्य की अवधारणा को अपनी पंचास्तिकाय की अवधारणा से समन्वित किया है। अतः जहां वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्य माने गये थे वहां जैनों ने पंचास्तिकाय के साथ काल को जोड़कर मात्र छः द्रव्य ही स्वीकार किए। इनमें भी जीव (आत्मा) आकाश और काल- ये तीन द्रव्य दोनों ही परम्पराओं में स्वीकृत रहे। पंचमहाभूतों जिन्हें वैशेषिक दर्शन में द्रव्य माना गया है, में आकाश को छोड़कर शेष पृथ्वी, अप् (जल), तेज (अग्नि) और मरूत् (वायु) इन चार द्रव्यों को जैनों ने स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर जीव द्रव्य के ही भेद माना है। दिक् और मन- इन दो द्रव्यों को जैनों ने स्वीकार नहीं किया, इनके स्थान पर उन्होंने पाँच अस्तिकायों में से धर्म, अधर्म और पुद्गल ऐसे अन्य तीन द्रव्य निश्चित किए। यह भी ज्ञातव्य है कि जहां अन्य परम्पराओं में पृथ्वी, अप्, वायु और अग्नि इन चारों को जड़ माना गया था वहां जैनों ने इन्हें चेतन माना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन की

षट्द्रव्य की अवधारणा अपने आप में मौलिक ही है। अन्य दर्शन परम्परा से उसका आंशिक साम्य ही देखा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि उन्होंने इस अवधारणा का विकास अपनी मौलिक पंचास्तिकाय की अवधारणा से किया है।

षट्जीवनिकाय की अवधारणा

पंचास्तिकाय के साथ-साथ षट्जीवनिकाय की चर्चा भी जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय के विभाग के रूप में षट्जीवनिकाय की यह अवधारणा विकसित हुई है। षट्जीवनिकाय निम्न है- पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। पृथ्वी आदि के लिए 'काय' शब्द का प्रयोग प्राचीन है। दीघनिकाय में अजितकेशकम्बलिन के मत को प्रस्तुत करते हुए- पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय और वायुकाय का उल्लेख हुआ है। उसी ग्रन्थ में पकुधकच्चायन के मत के सन्दर्भ में पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, सुख, दुःख और जीव- इन सात कार्यों की चर्चा है। इससे यह फलित होता है कि पृथ्वी, अप आदि के लिए काय संज्ञा अन्य श्रमण परम्पराओं में प्रचलित थी।

यद्यपि काय कौन-कौन से और कितने हैं इस प्रश्न को लेकर उनमें परस्पर मतभेद थे। अजितकेशकम्बलिन पृथ्वी, अप, तेजस् और वायु- इन चार महाभूतों को काय कहता था तो पकुधकच्चायन इन चार के साथ सुख, दुःख और जीव इन तीन को सम्मिलित कर सात काय मानते थे। जैनों की स्थिति इनसे भिन्न थी- वे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल- इन पांच को काय मानते थे, किन्तु इतना निश्चित है कि उनमें पंच अस्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा लगभग ई.पू. छठी-पांचवी शती में अस्तित्व में थी। क्योंकि आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में इन षट्जीवनिकायों का और ऋषिभाषित के पार्श्व अध्ययन में पंच अस्तिकायों का स्पष्ट उल्लेख है। इन सभी ग्रन्थों को सभी विद्वानों ने ई.पू. पांचवी-चौथी शती का और पालीत्रिपिटक के प्राचीन अंशों का समकालिक माना है। हो सकता है कि ये अवधारणायें क्रमशः पार्श्व और महावीरकालीन हो। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय की अवधारणा मूलतः पार्श्व की परम्परा की रही है- जिसे लोक की व्याख्या के प्रसंग में महावीर की परम्परा में भी मान्य कर लिया गया था। लोक के स्वरूप की व्याख्या के सन्दर्भ में महावीर ने पार्श्व की अवधारणाओं को स्वीकार किया था, जो उल्लेख भगवतीसूत्र में है, अतः इसी क्रम में उन्होंने पार्श्व की पंचास्तिकाय की अवधारणा को भी मान्यता दी होगी।

अतः मैं पं. दलसुखभाद्र मालवणियाँ के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि पंचास्तिकाय की परम्परा का विकास बाद में हुआ। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि महावीर की परम्परा

में सम्मिलित हो जाने पर जो दार्शनिक अवधारणायें भी महावीर की परम्परा में मान्य हुईं और उनमें पंचास्तिकाय की अवधारणा भी थी। अतः चाहे पंचास्तिकाय की अवधारणा महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना के बाद भगवती में मान्य हुई हो, किन्तु वह है पार्श्वकालीन।

यहां हमारी विवेच्य षट्जीवनिकाय की अवधारणा है, जो निश्चित ही महावीरकालीन तो है ही और उसके भी पूर्व की हो सकता है, क्योंकि इसकी चर्चा आचारांग के प्रथम अध्ययन में है। इतना भी निश्चित सत्य है कि न केवल वनस्पति और अन्य जीव-जन्तु सजीव है अपितु पृथ्वी, अप्, तेज और वायु भी सजीव है। यह अवधारणा स्पष्ट रूप से जैनों की रही है- सांख्य, न्याय-वैशेषिक आदि प्राचीन दर्शन-धाराओं में इन्हें पंचमहाभूतों के रूप में जड़ ही माना गया था- जबकि जैनों में इन्हें चेतन, सजीव मानने की परम्परा रही है। पंचमहाभूतों में मात्र आकाश ही ऐसा है जिसे जैन परम्परा भी अन्य दर्शन परम्पराओं के समान अजीव (जड़) मानती है। यही कारण था कि आकाश की गणना पंचास्तिकाय में तो की गई किन्तु षट्जीवनिकाय में नहीं। जबकि पृथ्वी, अप्, तेज और वायु को षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत माना गया। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा ने पृथ्वी, जल आदि के आश्रित जीव रहते हैं- इतना ही न मानकर यह भी माना गया है कि ये स्वयं जीव हैं। अतः जैन धर्म की साधना में और विशेष रूप से जैन मुनि आचार में इनकी हिंसा से बचने के निर्देश दिये गये हैं। जैन आचार में अहिंसा के परिपालन में जो सूक्ष्मता और अतिवादिता आयी है, उसका मूल कारण यह षट्जीवनिकाय की अवधारणा है। यह स्वाभाविक था कि जब पृथ्वी, पानी, वायु आदि को सजीव मान लिया गया तो अहिंसा के परिपालन के लिये इनकी हिंसा से बचना आवश्यक हो गया।

यह स्पष्ट है कि षट्जीवनिकाय की अवधारणा जैन दर्शन की प्राचीनतम अवधारणा है। प्राचीन काल से लेकर यह आज तक यथावत् रूप से मान्य है। तीसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी के मध्य इस अवधारणा में वर्गीकरण संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों को छोड़कर अन्य कोई मौलिक परिवर्तन हुआ हो, ऐसा कहना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि आचारांग के बाद सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के जीव संबंधी अवधारणा में कुछ विकास अवश्य हुआ है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार जीवों की उत्पत्ति किस-किस योनि में होती है जब वे एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करते हैं, तो अपने जन्म स्थान में किस प्रकार आहार ग्रहण करते हैं इसका विवरण सूत्रकृतांग आहार-परिज्ञा नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है। यह भी ज्ञातव्य है कि उसमें जीवों के एक प्रकार को 'अनुस्यूत' कहा गया है। सम्भवतः इसी से आगे जैनों में

अनन्तकाय और प्रत्येक वनस्पति की अवधारणाओं का विकास हुआ हो। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों में किस वर्ग में कौन से जीव हैं, यह भी परवर्तीकाल में ही निश्चित हुआ। फिर भी भगवती, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना के काल तक अर्थात् ई. की तीसरी शताब्दी तक यह अवधारणा विकसित हो चुकी थी, क्योंकि प्रज्ञापना में इन्द्रिय आहार और पर्याप्ति आदि के सन्दर्भ में विस्तृत विचार होने लगा था।

ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के बाद ष्टजीवनिकाय में त्रस और स्थावर के वर्गीकरण को लेकर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। आचारांग से लेकर तत्त्वार्थसूत्र के काल तक पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर माना गया था जबकि अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस कहा जाता था। उत्तराध्ययन का अन्तिम अध्याय, कुन्दकुन्द का पंचास्तिकाय और उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर और अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय को त्रस मानता है। द्वीन्द्रिय आदि को त्रस मानने की परम्परा तो थी ही, अतः आगे चलकर सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मानने की परम्परा का विकास हुआ। यद्यपि कठिनाई यह थी कि अग्नि और वायु में स्पष्टतः गतिशीलता देखे जाने पर उन्हें स्थावर कैसे माना जाय? प्राचीन आगमों में जहां पांच एकेन्द्रिय जीवों के साथ-साथ त्रस का उल्लेख है वहां उसे त्रस और स्थावर का वर्गीकरण नहीं मानना चाहिये, अन्यथा एक ही आगम में अन्तर्विरोध मानना पड़ेगा, जो समुचित नहीं है। इस समस्या का मूल कारण यह था कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस नाम से अभिहित किया जाता था- अतः यह माना गया कि द्वीन्द्रिय से भिन्न सभी एकेन्द्रिय स्थावर है।

इस चर्चा के आधार पर इतना तो मानना होगा कि लगभग छठी शताब्दी के पश्चात् ही त्रस और स्थावर के वर्गीकरण की धारणा में परिवर्तन हुआ है तथा आगे चलकर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पंच स्थावर की अवधारणा दृढ़ीभूत हो गयी। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि जब वायु और अग्नि को त्रस माना जाता था, तब द्वीन्द्रियादि त्रसों के लिए उदार (उराल) त्रस शब्द का प्रयोग होता था। पहले गतिशीलता की अपेक्षा से त्रस माना जाता था। वायु की गतिशीलता स्पष्ट थी। अतः सर्वप्रथम उसे त्रस कहा गया। बाद में सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात हुआ कि अग्नि भी ईंधन के सहारे धीरे-धीरे गति करती हुई फैलती जाती है। अतः उसे भी त्रस कहा गया। जल की गति केवल भूमि के ढलान के कारण होती है, स्वतः नहीं। अतः उसे पृथ्वी एवं वनस्पति के समान स्थावर ही माना गया। किन्तु वायु और अग्नि में स्वतः गति होने से उन्हें त्रस माना गया। पुनः जब आगे चलकर द्वीन्द्रिय आदि को ही त्रस और सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मान लिया गया तो- पूर्व आगमिक वचनों से संगति बिठाने का प्रश्न आया।

अतः श्वेताम्बर परम्परा में यह माना गया कि लब्धि की अपेक्षा से तो वायु एवं अग्नि स्थावर है, किन्तु गति की अपेक्षा से उन्हें त्रस कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में धवला टीका (10वीं शती) में इसका समाधान यह कह कर दिया गया कि वायु एवं अग्नि को स्थावर कहे जाने का आधार उनकी गतिशीलता न होकर स्थावर नामकर्म का उदय है। दिगम्बर परम्परा में ही कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने यह समन्वय निश्चय और व्यवहार के आधार पर किया। वे लिखते हैं- पृथ्वी, अप और वनस्पति ये तीन स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर कहे जाते हैं, किन्तु वायु और अग्नि पंच स्थावर में वर्गीकृत किये जाते हुए भी चलन क्रिया दिखाई देने से व्यवहार से त्रस कहे जाते हैं। वस्तुतः यह सब प्राचीन और परवर्ती ग्रन्थों में जो मान्यताभेद आ गया था उससे संगति बैठाने का एक प्रयत्न था।

जहां तक जीवों के विविध वर्गीकरणों का प्रश्न है, निश्चय है कि ये सब वर्गीकरण ई. सन् की दूसरी-तीसरी शती से लेकर दसवीं शती तक की कालावधि में स्थिर हुए हैं। इस काल में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि अवधारणाओं का विकास हुआ है। भगवती जैसे आगमों में जहां इन विषयों की चर्चा है वहां प्रज्ञापना आदि अंगबाह्य ग्रन्थों का निर्देश हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये विचारणाएं ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के बाद ही विकसित हुईं। ऐसा लगता है कि प्रथम अंग बाह्य आगमों में उनका संकलन किया गया है और फिर माथुरी एवं वल्लभी वाचनाओं के समय उन्हें अंग आगमों में समाविष्ट कर इनकी विस्तृत विवेचना को देखने के लिए तद् तद् ग्रन्थों का निर्देश कर दिया गया।

इस प्रकार जैन साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर माना जाता है कि जैन तत्त्वमीमांसा का कालक्रम में विकास हुआ है। यद्यपि परम्परागत मान्यता जैन दर्शन को सर्वज्ञ प्रणीत मानने के कारण इस ऐतिहासिक विकासक्रम को अस्वीकार करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. 1,8,1, 2000
2. समवायांग 9
3. उत्तराध्ययन 28,14
4. जैनदर्शन का आदिकाल पृ. 21

प्रो. सागरमल जैन

35 ओसवालसेरी

शाजापुर (म.प्र.) 465 001

जैन वाङ्मय में अष्टमंगल - एक विवेचन

डॉ. हरिशंकर पाण्डेय

१. प्रोचना

भारतीय परम्परा मंगल और मांगलिक वस्तुओं के सृजन, सम्बर्द्धन और संपादन में संन्यस्त है। ऐहिक जीवन में पूर्ण मंगल की संस्थापना कर, उसको भोगकर पारलौकिक मंगल में पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाना प्रत्येक भारतीय का संकल्प होता है। “जीवेम शरदः शतम्” की रमणीय भावना से विभूषित ऋषि-परम्परा वहां जाना चाहती है, जहां शोक, दुःख, मोह का नामोनिशान भी नहीं रहता, सिर्फ रमणीयता का, दिव्याह्लादकता का, परमानन्द और परममोद का साम्राज्य अवशिष्ट रहता है वहां जन्म, मृत्यु, जरा और जीर्णता पूर्णतः जीर्ण शीर्ण हो जाती है, नित्य महोत्सव ही अवशेष रहता है, जो चिरनवीन होता है।

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं, तदेव शाश्वत् महतो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णव शोषणं नृणां, सदूत्तमश्लोक यशोऽनुगीयते ॥

२. मंगल-विमर्श

‘मगि-गत्यर्थः’ धातु से मंगतेरलच् से अलच् (अल) प्रत्यय होकर मंगल, नपुंसकलिंग में ‘मंगलम’ शब्द बनता है। अभिप्रेतार्थसिद्धिः मंगलम् अर्थात् अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि मंगल है। प्रशस्त का नित्य आचरण और अप्रशस्त का विसर्जन मंगल है-

प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम्।
एतद्धि मंगलं प्रोक्तं ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥^१

‘मगि सर्पणे’ धातु से भी अलच् प्रत्यय करने पर मंगल शब्द निष्पन्न होता है। मंगति सर्पति पापानि इति जिससे पाप दूर भाग जाते हैं, वह मंगल है। विष्णुपुराणकार का अभिमत है-

अशुभानि निराचष्टे तनोतिशुभसन्ततिम् ।

स्मृतिमात्रेण यत् पुंसां ब्रह्मा तन्मंगलं विदुः ॥

अर्थात् सारे अशुभों का विनाश तथा शुभ-परम्परा का विस्तार जिसके स्मरण मात्र से होता है, वह ब्रह्म मंगल है। जैनाचार्य यतिवृषभ ने 'तिलोयपण्णत्ति' में लिखा है⁴-

गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे ।

विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥

अर्थात् जो पाप मलों को गालित करता है, विनष्ट करता है, घटित करता है, जलाता है, मार देता है, शोधित करता है और विध्वंस करता है, उसे मंगल कहते हैं।

मंगं नारकादिषु पवडंतं सो लाति मंगलं । लाति गेण्हइ त्ति वुत्तं भवति ।⁵

अर्थात् नारकादि में गिरते हुए को जो बचाता है, वह मंगल है।

मंगं सुखं लातीति मंगलम् । मलं गालयति विनाशयति इति मंगलम् ।⁶

अर्थात् जो सुख को लाता है, पाप मल का विनाश करता है वह मंगल है।

इस प्रकार जो पाप विनाशक, पाप प्रक्षालक, सुखकारक, परमाह्लादक है, उसे मंगल कहते हैं।

३. मंगल के पर्याय

कोश ग्रंथों में मंगल के अनेक पर्यायों का उल्लेख मिलता है। जैसे-भावुक, भव्य, कल्याण, भविक, शुभ, क्षेत्र, प्रशस्त, भद्र, स्वश्रेयस्, शिव, अरिष्ट, कुशल, भद्र, शस्त।

भागवत पुराण में अनेक पर्यायों का निर्देश है-

मंगलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय य ॥⁷

वैद्येक रत्नमाला में अनेक नामों का उच्चारण है-

कल्याणं मंगलं क्षेमं शातं शर्मं शिवं शुभम् ।⁸

अमरकोशकार ने अमरकोश⁹ में विभिन्न नामों का वर्णन किया है-

नन्दथुरानन्द शर्मं शात सुखानि च

श्वश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मंगलं शुभम् ।

भावुकं भविकं भव्यं कुशलं क्षेम शस्तम् ॥

४. शास्त्रों में मांगलिक द्रव्य

भारत के प्राचीन शास्त्रों में अनेक मांगलिक द्रव्यों का उल्लेख है, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार उद्दिष्ट है।

पूर्ण कुंभ, द्विज (ब्राह्मण), वेश्या, शुक्लधान्य, दर्पण, दही, मधु, ताजा पुष्प, दूर्वा, श्वेत अक्षत, वृषभ, गजेन्द्र, तुरग, प्रज्वलित अग्नि, सोना, पर्ण, पके हुए फल, नारी, प्रदीप, उत्तममणि, मुक्ता, पुष्पमाला, चन्दन आदि का दर्शन मंगल माना जाता है। राजहंस, मयूर, खज्जन, शुक, पिक, कबूतर, शंख, चक्रवाक, काली गाय, श्वेतचमर वाली चंवरीगाय, वत्सयुक्ता धेनु और पताका आदि दक्षिण भाग में शुभदायक हैं¹⁰—

ब्रह्मवैवर्तपुराण में ही अन्य मंगलद्रव्यों का उल्लेख है। दिव्याभरणभूषित पति एवं पुत्रों से सम्पन्न साध्वी नारी, शुक्लपुष्प, माला, धान्य खंजन आदि शुभ है। दक्षिण भाग में प्रज्वलित अग्नि, विप्र, वृषभ, गज, वत्सप्रयुक्ता, धेनु, राजहंस, वेश्या, पुष्पमाला, पताका, दधि, पायस मणि, सुवर्ण, रजत, मुक्तामणि, चन्दन, घृत, फल, लाजा, दर्पण, श्वेतकमल, कमलवन आदि शुभ मांगलिक वस्तुएं हैं¹¹ मांगलिक वस्तुओं में दूर्वा, दधि, घी, जलपूर्ण कुंभ, सवत्सा धेनु, वृषभ, सुवर्ण, गोबर से युक्त भूमि, स्वस्तिक, अक्षत, मधु, ब्राह्मणकन्या, श्वेतपुष्प, शमी, हुताशन, चन्दन, सूर्यबिम्ब और अश्वत्थवृक्ष आदि का उल्लेख है। बौद्ध वाङ्मय के ललितविस्तर एवं दिव्यावदान में अनेक मांगलिक द्रव्यों का निर्देश मिलता है। जैन वाङ्मय में इनका प्रभूत वर्णन है।

५. अष्ट मंगल

भारतीय परम्पराओं में किञ्चित् भेद मात्र से आठ मंगल द्रव्यों का उल्लेख मिलता है। वैदिक परम्परा के अनेक ग्रंथों में अष्टमंगल का उल्लेख है¹²—

मृगराजो वृषो नागः कलसो व्यंजनन्तथा ।

वैजयन्ती तथा भेरी दीप इत्यष्टमंगलम् ॥

अर्थात् मृगराज (सिंह) वृषभ, श्रेष्ठ हाथी या श्रेष्ठ सर्प, कलश, व्यंजन (शुभलक्षण), वैजयन्ती, भेरी तथा दीप ये आठ मंगल होते हैं।¹² किञ्चित् अंतर मात्र से अष्टमंगल का अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है—

लोकेऽस्मिन् मंगलान्यष्टौ ब्राह्मण्ये गोर्हुताशनः ।

हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाष्टमः ॥¹³

अर्थात् ब्राह्मण, गौ (गाय और वृषभ), प्रज्वलित अग्नि, हिरण्य सर्पि (घृत) सूर्य, जल और राजा ये आठ मंगल हैं।

६. जैन वाङ्मय में अष्टमंगल

जैन वाङ्मय में अनेक मांगलिक द्रव्यों का निर्देश मिलता है, जिनमें आठ प्रमुख हैं—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण। इन्हें ही अष्टमंगल, प्राकृत में अट्टमंगल कहा जाता है। भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम आठ मंगलों का निर्देश मिलता है—सोत्थिय-सिरिवच्छ-नंदियावत्त-वद्धमाणग-भद्रासण-कलस-मच्छदप्पणा।¹⁴ मेघकुमार की पुरुषसहस्रवाहिनी (हजार पुरुषों द्वारा ले जायी जाने वाली) शिविका के सामने अष्टमंगल का उल्लेख है—तं जहा सोवित्थिय-सिरिवच्छं।¹⁵

अर्थात् स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण। औपपातिक सूत्र¹⁶ में अशोकवरपादप के ऊपर आठ मंगलों का निर्देश है। हस्तिरत्न पर आरूढ भिंभिसार पुत्र के अभिषेक काल में सामने आठ मंगल यथाक्रम से रखे गए थे।¹⁷

औपपातिक सूत्र¹⁸ में ही अष्ट मंगलों के स्वरूप विषयक कुछ विशेषण पदों का भी उल्लेख हुआ है। श्रेष्ठ अशोक वृक्ष के ऊपर बने ये अष्ट मंगल जात्यरत्नों के बने हुए, सुन्दर, कोमल, मलारहित, रजरहित, घसे हुए, मार्जित किए हुए, निरूपम एवं सुन्दर प्रकाश से युक्त दर्शनीय एवं रमणीय थे। राजप्रशनीयसूत्र में औपपातिक सूत्र के समान ही अष्टमंगल का स्वरूप विवृणित है। सूर्याभदेव का विमान अष्टमंगलों से सुशोभित था।¹⁹ सिद्धायतन में विद्यमान जिन प्रतिमाओं के सामने अष्टमंगल बने हुए थे।²⁰ जीवाजीवाभिगमसूत्र में तोरणद्वारों पर अष्टमंगलों की रचना का वर्णन प्राप्त है (एक प्रसादावतंसक श्रेष्ठ भवन) अष्टमंगलों से सुशोभित था।²¹ दिगम्बर साहित्य में अनेक स्थलों पर अष्टमंगल का निर्देश मिलता है। तिलोयपण्णत्ति में उल्लिखित है²²—भिंंगारकलसदप्पणचामर धयवियणछत्तसुपयद्धा अर्थात् भंगार, कलश, दर्पण, चंवर, ध्वजा, बीजना और सुप्रतिष्ठ—ये आठ मंगलद्रव्य हैं। जैन पुराणों में अनेक स्थल पर मांगलिक द्रव्यों का निरूपण मिलता है। छत्र, चमर, ध्वजा, भंगार (झारी), कलश, सुप्रतिष्ठक (तौना) दर्पण और व्यंजन (व्यंजन) आदि मांगलिक द्रव्य हैं, जिनसे पाण्डुकशिलाविभूषित रहती है। समवसरण के गापुरद्वार भी इससे अलंकृत रहते हैं।²³

इस प्रकार आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर अष्टमंगलों का वर्णन मिलता है। जैन पुराणों, चरितकाव्यों एवं महाकाव्यों में भी अष्टमंगल का वर्णन मिलता है।

६.१ स्वस्तिक

स्वस्तिक शब्द दो शब्दों के मेल से बना है—स्वस्तिक और क। सु उपसर्गपूर्वक 'अस-भुवि' धातु से सावसे:²⁴ सूत्र से ति प्रत्यय होकर स्वस्ति बनता है। आशीर्वाद, क्षेम,

पुष्पादि को स्वस्ति कहते हैं। मंगल, निरुपद्रव, पापप्रक्षालनादि स्वस्ति है। स्वस्ति का प्रथम श्रवण भी मंगलवाचक माना जाता है। आचार्य भगुरि ने स्वस्ति उपपद को मंगल, आशीर्वाद, पापविनाशकादि अर्थों में स्वीकार किया है—स्वस्ति मंगलाशीर्वादपापनिर्णेजनादिष्विति।²⁵ अमरकोशकार ने लिखा है स्वस्त्याशीः, क्षेमपुण्यादौ प्रकर्षे लंघनेऽपि²⁶ स्वस्तिपूर्वक 'कै शब्दे' धातु से क (अ) प्रत्यय होकर 'स्वस्तिक' शब्द बनता है। 'स्वस्तिक क्षेमं कायति इति' अर्थात् जो क्षेम, मंगल पुण्य का विस्तार करता है, पाप का विनाशक है, वह स्वस्तिक है। स्वस्ति शब्द से स्वार्थ में क प्रत्यय करने पर भी स्वस्तिक शब्द बनता है। जो मंगलकारक हो वह स्वस्तिक है। तण्डुलादि मांगलिक द्रव्यों के द्वारा मंगलसंवर्द्धन और अमंगलविनाश के लिए मांगलिक चिह्न की रचना आज भी की जाती है।

स्वस्तिक प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति सभ्यता और जनमानस का अभिन्न अंग रहा है। वैदिक साहित्य से लेकर आज तक के सभी सांस्कृतिक आचार्यों, मनीषियों और प्रज्ञापुरुषों ने स्वस्तिक की महत्ता को रेखांकित किया है।

देवों में 'ऊं स्वस्ति' से उच्चरित अनेक मंत्रों द्वारा विभिन्न प्रकार के देवों की अभ्यर्थना की जाती है। आज भी स्वस्तिवाचक मंत्र आस्तिक समाज का अभिन्न अंग बना हुआ है। वेद में यह मंत्र उद्दिष्ट है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नःपूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥²⁷

अन्यत्र भी अनेक मंत्रों में स्वस्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वस्तिक अनेक देवों का प्रतीक माना जाता है। बेन्जामिन रोलैण्ड ई. टामस तथा वासुदेवशरण अग्रवाल आदि कलाविदों ने स्वस्तिक को सूर्यदेव का प्रतीक माना है। यह ब्रह्मा का भी प्रतीक है। चतुरानन ब्रह्मा स्वस्तिक की चारभुजाओं के प्रतीक है।

जैन पम्परा में स्वस्तिक सिद्ध का प्रतीक है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार उसे दूसरा जन्म प्राप्त होता है। चार योनियां—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक है। सिद्ध पुरुष इन चार योनियों के आवागमन से सर्वथा मुक्त होता है। इसी दार्शनिक मान्यता का प्रतीक स्वस्तिक है। मध्यबिन्दु से प्रारंभ चार भुजाएं पुनर्जन्म की चार अवस्थाओं के प्रतीक हैं, किन्तु सिद्ध पुरुष इनसे मुक्त होता है। स्वस्तिक की चार भुजाओं की मुड़ी रेखाएं व्यक्त करती हैं कि सिद्धावस्था को प्राप्त पुरुष के लिए आवागमन की ये अवस्थाएं बंद किंवा समाप्त हो गयी हैं। सिद्ध शब्द स्मरण एवं उच्चारण मंगल के साथ दृष्टि मंगलात्मक भी है। उसी तरह स्वस्तिक स्मरण, उच्चारण और दर्शन त्रिविध रूप से मंगलात्मक है, इसलिए सिद्ध का प्रतीक है। यह सातवें तीर्थंकर सुपाशर्वनाथ का प्रमुख चिह्न है।²⁸

अर्द्धमागधी आगम साहित्य में यह स्वस्तिक शब्द सोत्थिय, सोवत्थिय आदि अनेक रूपों में मिलता है। अष्टमंगलों में यह प्रथम स्थान पर परिगणित है।

स्वस्तिक का बौद्ध धर्म से भी निकट का संबंध रहा है। बौद्ध ग्रंथ-ललितविस्तर एवं दिव्यावदान में शुभ चिह्नों का वर्णन मिलता है। ललितविस्तर में एक स्थल पर अनेक शुभ प्रतीकों के साथ स्वस्तिक का भी उल्लेख है।²⁹ दिव्यादानव में भी अन्य चिह्नों के साथ स्वस्तिक का उल्लेख है, जो भगवान् बुद्ध के चिह्न हैं³⁰-

ततो भगवता चक्रस्वस्तिकेन नन्द्यावर्तेन जालावनद्धेनानेकपुण्य-
शतनिर्जातेन भीतानामाश्वासकरेण पृथिवी परभृष्टा।

कलाओं में स्वस्तिक

कलाओं में अनेक स्थलों पर स्वस्तिक का उल्लेख या अंकन है। वस्तुकला से इसका स्वस्तिक संबंध रहा है। स्वस्तिक एक श्रेष्ठ गृह को भी कहते हैं। तोरण, गोपुर, वेदिका भद्रासनादि पर भी स्वस्तिक का अंकन किया जाता था। श्रेष्ठ पुरुषों का एक चिह्न स्वस्तिक भी है। भगवान् महावीर के हाथ पर स्वस्तिक का चिह्न था।³¹

६.२ श्रीवत्स

श्रीवत्स शब्द दो शब्दों के मेल से बना है-श्री और वत्स। 'श्रीयुक्तं वत्सं वक्षो यस्य' अर्थात् श्री लक्ष्मी युक्त वक्षस्थल जिसका है वह श्रीवत्स है। भगवान् विष्णु का चिह्नविशेष है। श्री ऐश्वर्य, विभूति, सम्पन्नता, शोभा, चारूता, सम्पत्ति, सृजन आदि का प्रतीक है। वत्स का अर्थ है सन्तान, बच्छड़ा, बच्चा, बालक आदि। श्री की कृपा पात्र जो है, वह श्रीवत्स है, जहां पर शोभा सम्पन्नता अनन्त सुख का चिर अधिवास हो वह श्रीवत्स है। अपने जागरूक पुरुषार्थ, अप्रमत्त प्रयत्न, शोभा चारूता के द्वारा पुरुष श्रीवत्स हो जाता है। यही कारण है कि महापुरुषों के प्रमुख लक्षण में श्रीवत्स प्रमुख है। भगवान् विष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान् अर्हत, महात्मा बुद्ध आदि श्रीवत्स लक्षण से लक्षित हुए हैं।

कोश वाङ्मय में श्रीवत्स

अमरकोश में विष्णु के अनेक नामों में श्रीवत्सलांछन को गिनाया गया है। आचार्यों ने इसे विशेष रोमावर्त कहा है, जिससे वक्ष श्री से युक्त हो जाता है। हेमचन्द्र ने भगवान् विष्णु के वक्ष पर अंकित चिह्न विशेष को श्रीवत्स कहा है-अंक श्रीवत्सो³² टीकाकार का अभिमत है-

श्रिया युक्तो वत्सो वक्षोऽनेन श्रीवत्सः रोमावर्तविशेषः।

हलायुधकोश में निर्दिष्ट है-स तु वक्षस्य शुक्लवर्णदक्षिणावर्त लोमावली।

यही कारण है कि महापुरुषों के प्रधान लक्षण में श्रीवत्स की गणना की गई है। जैन तीर्थंकरों के प्रमुख चिह्नों में श्रीवत्स भी एक है। बृहत्संहिता एवं मानसार के अनुसार³³-

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्सांकः प्रशान्तमूर्तिश्च ।

दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योंऽर्हतां देवः ॥

निराभरणसर्वांगं निर्वस्त्राङ्गं मनोहरम् ।

सर्ववक्षस्थले हेमवर्णश्रीवत्सलाञ्छनम् ।³⁴

जैन अर्द्धमागधी आगम औपपातिक सूत्र में भगवान् महावीर के वक्षलक्षण के रूप में श्रीवत्स का उल्लेख है- सिरिवच्छंकियं वच्छे ।³⁵ उनके हाथ पर स्वस्तिक का भी चिह्न था।

प्रवचनसारोद्धार नामक ग्रंथ में तीर्थंकरों के चिह्नों में श्रीवत्सादि का भी उल्लेख है।

विष्णु रामादि के श्रेष्ठ चिह्नों में श्रीवत्स का उल्लेख अनेक बार मिलता है। रामायण में श्रीराम विष्णु के अवतार माने गए हैं तथा उन्हें श्रीवत्सवक्ष कहा गया है³⁶-

श्रीवत्सवक्षो नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः ।

मानुषं रूपमास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः ॥

महाभारत में श्रीवत्स विषयक एक बड़ी ही रोचक घटना वर्णित है। श्रीरुद्र और श्रीनारायण के बीच युद्ध होता है। युद्ध के बाद जब संधि हुई तो श्री नारायण ने श्रीरुद्र से कहा कि आपके शूल से अंकित मेरे वक्षस्थल का यह चिह्न आज से श्रीवत्स होगा तथा मेरे हाथ से जो आपके कण्ठ में चिह्न अंकित हो गया है, उससे आप श्रीकण्ठ कहलायेंगे-

अद्यप्रभृति श्रीवत्सः शूलांकोऽयं भविष्यति ।

मम पाण्यंकितश्चापि श्रीकण्ठस्त्वं भविष्यसि ॥

श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर श्रीवत्स सुशोभित था- श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभम् ।³⁷

महाकवि कालिदास ने श्रीविष्णु के वक्षस्थल पर विद्यमान श्रीवत्स का सुन्दर वर्णन किया है। रघुवंश में आया है³⁸-

प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।

कौस्तुभाख्यामपां सारं विभ्राणं बृहतोरसा ॥

कुमारसंभव में प्रथम विधाता (श्री विष्णु) को श्रीवत्स युक्त बताया गया है³⁹-

तमभ्यगच्छत प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्चसाक्षात् ।

ज्योतिशास्त्र के अनुसार श्रीवत्सांकित मनुष्य राजा, चक्रवर्ती, सम्राट्, श्रेष्ठदानी, धर्मरक्षक एवं धर्मप्रवर्तक होता है। श्रीवत्सांकित पुरुष यज्ञ दानादि में निपुण तथा धनधान्य सम्पन्न होता है। स्त्री के किसी भी अंग में यह चिह्न हो तो वह रानी बनती है।

जैन प्रतिमा विज्ञान और श्रीवत्स

जैन कला में सबसे प्राचीन तीर्थंकर मूर्तियों पर श्रीवत्स का चिह्न अंकित मिलता है। मथुरा से प्राप्त होने वाली तीर्थंकर की मूर्तियों के वक्षस्थल पर प्राप्त श्रीवत्सलांछन शृंगयुगीन श्रीवत्स का अंलकृत रूप है।

मथुरा में मिली ऐसी जैन तीर्थंकरों की १७ मूर्तियां मथुरा के पुरातात्विक संग्रहालय में तथा १४ लखनऊ के राज्य संग्रहालय में हैं। इनके वक्ष पर अंकित श्रीवत्स कुषाण तथा गुप्तकालीन अपने स्वरूप विकास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। विदिशा क्षेत्र में मिली तीर्थंकर मूर्तियों पर भी वैसा ही चिह्न है। मथुरा संग्रहालय की वर्द्धमान की एक आदमकद प्रतिमा के वक्ष पर श्रीवत्स का सुन्दर मध्यमणि के समान चिह्न अंकित है, जिसका स्वरूप लगभग कमल पुष्प जैसा है। लखनऊ के राज्य संग्रहालय की एक जैन प्रतिमा पर कमल जैसा श्रीवत्स अंकित है। अन्यत्र भी एतद्विषयक प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है।

६.३ नन्द्यावर्त

नन्द्यावर्त शब्द नन्दि और आवर्त दो शब्दों के मल से बना है। नन्दि जनको आवर्तों यत्रः। मांगलिक गृह को नन्द्यावर्त कहते हैं। अमरकोशकार ने ईश्वरसद्यविशेष को नन्द्यावर्त कहा है—स्वस्तिकः सर्वतोभद्रो नन्द्यावर्तादयोऽपि च। विच्छंदक प्रभेदाहि भवन्ति ईश्वरसद्यनाम ॥

अभिधान चिन्तामणि में अठारहवें तीर्थंकर अर का चिह्न विशेष नन्द्यावर्त बताया गया है १० वहीं पर विशिष्ट ढंग से बने हुए धनवानों के गृह को नन्द्यावर्त कहा है। वृक्ष का एक नाम नन्द्यावर्त है ११

मोनीयरविलिम्स ने संस्कृत-अंग्रेजी कोश में निम्न अर्थों की ओर निर्देश किया है—King diagram, anything so formed, a palace or temple, a species of large fish, the holy fig&tree any trace, a kind of shell, attitude in dancing.

प्राकृत हिन्दी कोश में नन्द्यावर्त (नन्दियावर्त) के निम्नलिखित अर्थ निर्दिष्ट हैं—स्वस्तिक विशेष, एक लोकपालदेव, क्षुद्रजन्तुविशेष, देवविमानविशेष।

६.४ वर्धमानक

‘वर्धच्छेदनपूरणयोः’ धातु से शानच् शप् मुक् (म) करने पर वर्द्धमान बनता है। पुनः वर्द्धमान शब्द से ‘संज्ञार्याकन’ पाणिनिसूत्र से कन् (क) प्रत्यय होकर वर्द्धमानक शब्द बनता है। वर्धते इति वर्धमानक अर्थात् जो नित्य वर्धनशील हो या वैसा चिह्न विशेष जो नित्य समृद्धिकारक हो वह वर्धमानक है। स्वार्थ में क प्रत्यय होकर भी वर्धमानक शब्द बनता है। धनिकों या देवों या श्रेष्ठजनों के गृहविशेष को वर्धमानक कहा जाता है।¹² बृहत्संहिता में वर्द्धमानक गृह विशेष का लक्षण निर्दिष्ट है।

प्राचीन काल का एक विख्यात देश का नाम भी वर्द्धमान या वर्द्धमानक है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार भद्राश्ववर्ष का एक कुलपर्वत विशेष वर्द्धमानक है।¹³ अमरकोशकार ने वर्द्धमानक को ‘सराव’ कहा है—सरावो वर्द्धमानकः।¹⁴ मोनीयर विलियम्स ने लिखा है— a dish of saucer of a partic. shape. Lid of cover way of joining the hands. a serpent demon, various men.

‘प्राकृत-हिन्दी कोश’ के अनुसार अठासी महाग्रहों में एक महाग्रह ज्योतिष्क देवविशेष, एक देवविमान, शराव, पुरुष वर आरूढ पुरुष, स्वस्तिक-पंचक, एक तरह का महल है।¹⁵

६.५ भद्रासन

श्रेष्ठ, सुखकारक सिंहासन को भद्रासन कहा जाता है। अमरकोशकार ने सिंहासन या नृपासन को भद्रासन कहा है—नृपासनं यत्तद् भद्रासनं सिंहासनं तत्।¹⁶ आचार्य हेमचन्द्र ने राजा के बैठने के आसन को भद्रासन कहा है—भद्रासनं नृपासनम्।¹⁷

भद्राय लोकहिताय आसनम् भद्रासनम् अर्थात् लोककल्याण के लिए बनाया गया राजा का आसन भद्रासन है। योगियों के आसन विशेष को भी भद्रासन कहते हैं।¹⁸

मोनीयर विलियम्स ने निम्न अर्थों की ओर निर्देश किया है—a splendid seat, throne, posture of a devotee during meditation.

बृहत्संहिता¹⁹ में भद्रासन का स्वरूप बताया गया है। वह श्रेष्ठ मणियों, सुवर्णों एवं रत्नों का बना होता था। उस पर मृगचर्म, हस्तिचर्म एवं अन्य प्रकार के श्रेष्ठ एवं सुखस्पर्श गद्दों का प्रयोग किया जाता था। साढ़े तीन हाथ उसकी ऊंचाई होती थी। माण्डलिकों, राज्यविस्तार के इच्छुक राजाओं के लिए वह शुभदायक था। प्रसन्न मन से राजा लोग उस पर बैठते थे।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर भद्रासन का सुन्दर वर्णन मिलता है। राजा बल की पत्नी प्रभावती महास्वप्नों को देखकर राजा के पास जाती है और राजा से सम्मानित होकर नाना प्रकार के मणिरत्नों से खंचित श्रेष्ठ आसन (भद्रासन) पर बैठती है। नानामणिरयणभक्तिचित्तंसि भद्रासणंसि ^{१०}

राजा बल प्रातःकाल उठकर पूर्व दिशा की ओर मुंहकर श्रेष्ठ आसन पर बैठता है। श्रेष्ठ आसन पर बैठकर वह नृपति अपने से उत्तरपूर्व भाग में आठ भद्रासनों का निर्माण करता है। वे भद्रासन उत्कृष्ट श्वेत वस्त्रों से आच्छादित थे तथा प्रयोजन सिद्धि हेतु मांगलिक उपचारों (कृत्यों) से युक्त थे ^{११} वह पुनः रानी प्रभावती के लिए भी नानामणिरत्नों से खंचित, सुकोमल एवं सुन्दर बिछावन एवं आसनों का निर्माण करता है। स्वप्न पाठकों को बुलाकर राजा बल भद्रासनों पर बैठता है। राजा उद्रायण के दाहिने भाग में विद्यमान श्रेष्ठ भद्रासन पर बैठकर पद्मावती तीर्थकरों के अतिशय-छत्रादि को देखती है।

ज्ञाताधर्मकथा में अनेक स्थलों पर भद्रासन का वर्णन है। धारिणी मांगलिक महास्वप्नों को देखकर राजा श्रेणिक के पास निवेदन करने लगती है। राजा श्रेणिक से सम्मानित होकर श्रेष्ठ भद्रासन पर बैठती है। वह भद्रासन नाना प्रकार के मणिरत्नों से खंचित था ^{१२} राजा श्रेणिक भी भगवती सूत्र के राजा बल के समान उत्तर पूर्व भाग में आठ भद्रासनों का निर्माण कराता है। वे भद्रासन श्वेतवस्त्रों से आच्छादित एवं सिद्धिदायक मांगलिक उपचारों से युक्त थे ^{१३}

अष्टमंगलों में भद्रासन

ज्ञानाधर्मकथा में ही एक स्थल पर अष्टमांगलिक द्रव्यों में भद्रासन का उल्लेख है। सोवत्थिय-सिरिवच्छ-नंदियावत्त-वद्धमाणक-भद्रासण-कलस-मच्छ-दप्पणया ^{१४}

प्रश्नव्याकरण में एक स्थल पर भद्रासन का उल्लेख है ^{१५} औपपातिक में निर्दिष्ट श्रेष्ठ अशोक वृक्ष के आगे अष्टमंगलों में भद्रासन का निर्देश है। यहां अष्टमंगलों का सुन्दर चित्रण है। उसके अनेक गुणों का निर्देश है। वे अष्टमंगल सभी प्रकार के श्रेष्ठ रत्नों के बने हुए सुन्दर, स्वच्छ, स्पर्शसुखदायक, रजरहित, निर्मल, निरूपंक, उद्योतयुक्त एवं रमणीय थे ^{१६} औपपातिक सूत्र में भी अष्टमांगलिक पदार्थों का निर्देश है ^{१७} राजप्रश्नीय में औपपातिक की तरह भद्रासन के साथ अष्टमांगलिक द्रव्यों का स्वरूप वर्णित हैं। वहीं पर सूर्याभदेव भद्रासन की विकुर्वणा करता है। सिंहासन के चारों तरफ चार-चार यानि सोलह भद्रासनों की रचना करता है। सूर्याभदेव स्व विरचित यानविमान में भी अष्टमंगल का निर्माण करता है। वहीं पर विभिन्न प्रकार के महलों में अनेक प्रकार के आसनों के साथ रत्नमय भद्रासन

का निर्माण करता है। सिद्धायतन में विद्यमान जिनप्रतिमाओं के सामने अष्टमंगलिक द्रव्यों के साथ भद्रासन की रचना भी की गई थी। वहीं पर सूत्र ६५८ से ६६४ तक प्रत्येक में सुधर्मा सभा में भद्रासनों का वर्णन है। जिन पर ऋद्धि सम्पन्न देव, अग्रमहिषियों तथा अन्य प्रकार के देव बैठते हैं।

जीवाजीवाभिगम सूत्र⁵⁸ में त तोरण द्वारों पर अष्टमंगलों के साथ भद्रासन को अंकित बताया गया है। विजयद्वार के अन्तर्गत अनेक भद्रासनों का उल्लेख है। एक सील पर एक श्रेष्ठ भवन (प्रासादावतंक) का वर्णन है। जिसमें अनेक सिंहासनादि सुशोभित हैं। उनके साथ परिवाराभूत भद्रासन भी बने हैं। वहीं अष्टमंगलों के होने का भी उल्लेख है। भद्रासन के साथ मांगलिक ध्वजों का भी होना बताया गया है— भद्रासणाइं उवरि मंगला झयां⁵⁹

जीवाभिगम सूत्र में अन्यत्र भी सिद्धासनों का वर्णन है। अन्य जैन ग्रंथों में अनेक स्थलों पर भद्रासन का वर्णन है। जैनैतर शास्त्रों में भी भद्रासन का स्वरूप निरूपित है।

६.६ कलश

कलश शब्द कलश और कलस दोनों रूपों में मिलता है। कल उपपदपूर्वक शु गतौ धातु से प्रत्यय करने पर कलश शब्द बनता है। कलं मधुराव्यक्तशब्दं शवति जलपूरणसमये प्राप्नोति इत्यर्थ 'अच्'। घट, कुट, निप, कलस, कुम्भ, करीर आदि पर्याय है। कलश शब्द क उपपद पूर्वक लसदीप्तौ धातु से अच् प्रत्यय करने पर भी निष्पन्न होता है। केन जलेन लसति शोभते अर्थात् जो जल से सुशोभित होता है वह कलस है। कालिका पुराण में कलस का सुन्दर निवर्चन प्राप्त है⁶⁰—

कलाः कलास्तु देवानामसितास्ताः पृथक् पृथक् ।

यतः कृतास्तु कलसास्ततस्ते परिकीर्तिताः ॥

सर्वप्रथम सागर मंथन के समय चौदह-रत्नों के साथ अमृत-कलश की उत्पत्ति हुई। उसमें भरे हुए अमृत को थोड़ा-थोड़ा एंव पृथक्-पृथक् देवों ने पान किया, इसलिए उसका नाम कलश पड़ा। वहीं पर नव भेदों का उल्लेख भी है—गोह्य, उपगोह्य, मरुत, मयूख, मनोहा, ऋषिभद्र, तनुशोधक और विजय⁶¹ क्षितीन्द्र, जलसंभव, पवनोद्भूत, अग्नि कलस, यजमान, कोषसंभव, सोम, आदित्य और विजय— ये अन्य आठ नाम भी मिलते हैं। पंचमुखी कलस का उल्लेख है।

साहित्यक परम्परा में कलश या पूर्णघट का उल्लेख सर्वप्रथम विश्व के आद्य ग्रन्थ ऋग्वेद में प्राप्त होता है। वहां पर पूर्ण कलश⁶² कुंभ,⁶³ और भद्रकलश⁶⁴ आदि रूप में

कलश का सुन्दर वर्णन हुआ है। स्मृति साहित्य में अनेक स्थलों पर जलपात्र के रूप में इसका वर्णन मिलता है। स्कन्दपुराण में पार्वती के विवाह के अवसर पर वर्णित मांगलिक चिह्नों में सुवर्णकलश का भी उल्लेख है ⁶⁵ मत्स्यपुराण में ⁶⁶ श्रीपर्णी लता सहित पूर्णकुंभ को मुख्य द्वार पर रखकर अक्षत एवं जल से पूजने का विधान है। देवालया और भवनों में भी पद्मयुक्त कलश के अंकन का विधान बताया गया है ⁶⁷

कालिदासादि के काव्यों में इसका प्रभूत प्रयोग हुआ है। शकुन्तला के स्तनों को घट से उपमित किया गया है—घटस्तनप्रस्रवणैः व्यवर्धयत्। रघुवंश में सौभाग्य एवं पूर्णता का प्रतीक पूर्णकुम्भ से सुशोभित गृहद्वार का वर्णन है ⁶⁸

आचार्य भृहृहरि ने उत्कृष्ट युवति के स्तनों की उपमा कनककलश से दी है ⁶⁹ अमरुक शतक में 'स्तनकलश' शब्द का प्रयोग हुआ है ⁷⁰ पंडितराज जगन्नाथ ने कुम्भ शब्द का प्रयोग किया है—इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा। इस प्रकार काव्यकाल में कलश की उदात्तता, पवित्रता और रमणीयता तथा मंगलचारुता के कारण कौमार्यसम्पन्न कन्याओं के स्तनों के लिए कुम्भ, घट, कलश आदि उपमान के रूप में प्रयोग किया गया है।

बौद्ध वाङ्मय में कलश के मांगलिक रूप का दर्शन होता है। ललित-विस्तर में विभिन्न अवसरों पर मांगलिक चिह्नों की सूचियां दी गई हैं। बुद्ध की हथेली पर अंकित चिह्नों में स्वस्तिक, शंख, मीन आदि के साथ कलश का भी उल्लेख प्राप्य है ⁷¹ वहीं पर बुद्ध के जन्म के संदर्भ में गंधोदक से भरा हुआ पूर्णकुंभ का भी वर्णन उपलब्ध होता है ⁷²

जैन वाङ्मय में इसका प्रभूत वर्णन मिलता है। अष्टमांगलिक द्रव्यों में इसका प्रमुख स्थान है।

भगवतीसूत्र में अनेक प्रकार के कलशों का उल्लेख है। जामालिक्षत्रियकुमार के सिंहासनाभिषेक महोत्सव काल में अनेक कलशों की स्थापना की गई थी। उनमें आठ सौ सुवर्ण कलश, आठ सौ रुपये (चांदी के) कलश, आठ सौ मणि कलश, आठ सौ सुवर्ण और चांदी के मिश्रण से बने कलश, आदि अनेक कलशों का वर्णन है ⁷³ कलश के मांगलिक जल से उसका स्नान कराया जाता है। शिवभद्रकुमार⁷⁴ के राज्याभिषेक समय में भी अनेक प्रकार के मांगलिक कलशों की संस्थापना की गई थी। उद्रायण राजा के अभिषेक काल में भी अनेक मांगलिक कलशों की प्रतिष्ठा की गई थी ⁷⁵ इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा, अंतकृद्दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र आदि में अनेक स्थलों पर कलश के मांगलिक रूप का दर्शन होता है।

६.७ मत्स्य (मीन)

‘मद्’ धातु से ‘ऋतन्यजीति’ सूत्र से स्यन् (स्य) प्रत्यय करने पर मत्स्य शब्द निष्पन्न होता है। माद्यन्ति लोकाऽनेनेति। जिससे संसार प्रसन्न होता है। मत्स्य दृष्टिरमणीय होता है। जल की स्वच्छता उसका कार्य है। भगवान विष्णु का प्रथमावतार मत्स्य ही है। लोकमंगल के लिए भगवान ने मत्स्य का रूप धारण किया।

शास्त्रों में निर्दिष्ट मांगलिक द्रव्यों में मत्स्य का स्थान है। जैन अष्टमंगल में मत्स्य है। आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर निर्दिष्ट अष्टमंगलों की सूची में मत्स्य का उल्लेख है। भारतीय कला विशेषतः वास्तुकला में मत्स्यांकन का प्रभूत उपयोग प्राप्त है।

६.८ दर्पण

‘दृप संदीपने’ धातु से ‘णिच्’ और नन्दिग्रपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः सूत्र से ल्यु प्रत्यय करने पर दर्पण बनता है। दर्पयति सन्दीपयति इति दर्पणः अर्थात् जो संदीपित करता है, दिखा देता है, वह दर्पण है। मुकुट, आदर्श, आत्मादर्श आदि पर्याय शब्द हैं। जो पापरूप दर्प का विनाशक है। मंगलकारक है वह दर्पण है। राजवल्लभ के अनुसार यह आयु, लक्ष्मी, यश, शोभा, समृद्धि का कारक है।^{१६}

दर्पण देखकर यात्रारंभ मंगलदायक माना जाता है। शास्त्रों में मांगलिक द्रव्यों के साथ दर्पण का भी उल्लेख है। आगम ग्रंथों में अनेक स्थलों पर अष्टमांगलिक द्रव्यों में तथा स्वतन्त्र रूप से भी दर्पण का उल्लेख है।

इस प्रकार अष्टमांगलिक द्रव्यों में स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य दर्पण आदि का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया। इनके अतिरिक्त भी अन्य मांगलिक द्रव्य, ब्राह्मण, अग्नि, शंख, कमल, दूर्वा, अक्षत, दही आदि हैं, उनका भी यथासंभव वर्णन विवेचन किया जाना वांक्ष्य है।

७. अष्ट मंगल में आठ संख्या का महत्त्व

अब प्रश्न होता है कि मांगलिक द्रव्य तो अनेक हैं, लेकिन अष्ट का ही ग्रहण क्यों किया गया। आठ की संख्या का क्या महत्त्व है? इस संदर्भ में अष्ट संख्या विचारणीय है।

अष्ट शब्द की व्युत्पत्ति

‘अशू व्याप्तौ’ धातु से तुद् एवं कन् प्रत्यय करने पर अष्ट शब्द निष्पन्न होता है। जो सर्वत्र परिव्याप्त होता है, वह अष्ट है। संसार में जितने भी अष्ट संख्या वाचक पदार्थ हैं वे

सब सर्वशक्तिमान, ऐश्वर्यवान एवं विभूतिमय हैं। कुछ अष्टसंख्यावाचक पदार्थों का नामोल्लेख इस प्रकार है-

१. योग के अष्ट अंग - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धरणा, ध्यान, समाधि।
२. अष्ट वसु (एक प्रकार के देव समूह) - आप, ध्रुव, सोम, घर या धव, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास।
३. अष्ट शिवमूर्ति - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा तथा यज्ञ।
४. अष्ट दिग्गज।
५. अष्टसिद्धि - अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायिता।
६. अष्ट ब्रह्मश्रुति।
७. अष्ट व्याकरण - इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न्य, आपिशली, शाकटायन आदि।
८. अष्ट दिग्पाल - आठों दिशाओं के आठ दिशापाल - इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत, वरुण, मरुत, कुबेर और ईश।
९. अष्ट अहि
१०. अष्ट कुलाद्रि - आठ कुलपर्वत -महेन्द्र, मलय, मन्दर, सह्य, शुक्तिमान ऋक्षपर्वत, विन्ध्य, परियात्र।
११. अष्ट - ऋषभ, जीवाक, भेद, महाभेद, ऋद्धि, वृद्धि, काकोली, क्षीरकाकोली।
१२. अष्टांग प्रणाम - शरीर के आठ अंगों द्वारा किया जाने वाला प्रणाम - दो जानु, दो पैर, दो हाथ, वक्षस्थल, बुद्धि, शिर, वाणी और दृष्टि से किया जाने वाला प्रणाम।
१३. अष्ट मैथुन - आठ प्रकार के संभोग रस - स्मरण, कीर्तन, क्रीड़ा-प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति।
१४. अष्टाध्यायी - आठ अध्यायों वाला व्याकरण ग्रंथ।
१५. अष्टनृपकर्तव्य - राजा के आठ कर्तव्य - ग्रहण, विसर्जन, प्रैष, निषेध, अर्थवचन, व्यवहार कार्य (न्याय), दण्डशुद्धि और सदा प्रजानुरक्त।

१६. अष्ट गुण - श्रेष्ठ ब्राह्मण के आठ गुण - सभी जीवों पर दया, क्षांति, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकृपणता और निस्पृह।
१७. अष्टदलकमल - सभी कमलों के श्रेष्ठ आठ दलों वाला कमल।
१८. चिकित्साशास्त्र के आठ अंग - शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमरभृत्य, अगदतंत्र, रसायनतंत्र, वाजीकरणतंत्र।
१९. सूर्य के अष्ट अर्ध - जल, दुग्ध, कुशाग्रभाग, घृत, दधि, लालकरवीर और चन्दन।
२०. अष्ट धातु - स्वर्ण, रुप्य (चांदी) ताम्र, रंग, जस्ता, सीसा, लौह, पारा।
२१. अष्ट रत्न - पुष्पराग, माणिक्य, इन्द्रनील, गोमेद, वैदूर्य, मौक्तिक, विद्रुम।
२२. अष्ट रस - साहित्यशास्त्र के आठ रस - शृंगार, हास, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से अष्ट शब्द की महनीयता सिद्ध है, इसलिए अष्ट मंगल का ग्रहण हुआ।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

- | | |
|--|---|
| 1. भागवत पुराण, 12.12, 49 | 12. शब्दकल्प भाग-१, पृ. १४८ |
| 2. उ. सू. ५७० | 13. वही, १, पृ. १४८ |
| 3. शब्दकल्पद्रुम 3, पृ. ५६४ | 14. वही, ९, पृ. २०४ |
| 4. तिलोयपण्णत्ति १-९ | 15. ज्ञाता सूत्र १.७.१४३ |
| 5. दशवैकालिक चूर्णि पृ. १५ | 16. औपपातिक सूत्र १२ |
| 6. धवलापुराण १, पृ. ३१-३३ | 17. वही, ६४ |
| 7. भागवत पुराण ५.१४.३४ | 18. वही, १२ |
| 8. शब्दकल्पद्रुम ३, पृ. ५०४ | 19. राजप्रश्नीय सूत्र ४९ |
| 9. अमर कोश १.१.४.३-४ | 2०. वही, २९१ |
| 10. ब्रह्मवैवर्तपुराण गणपति खण्ड १ अ. ६ | 21. जीवाजीवाभिगम ३.२८९ |
| 11. ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्म खण्ड
अध्याय ७०) मत्स्यसूक्तमहातन्त्र
(पटल ४३) | 2२. तिलोय पण्णत्ति ४-१९७९ |
| | 23. महापुराण १३.९१, १५.४३७-४३,
२२.१८५.२१०, पद्मपुराण २.१३७ |
| | 24. उत्तराध्ययन सूत्र ४.१८० |

25. शब्दकोश ५ पृ. ४८९
26. वही, ३.४.३.
27. ऋग्वेद १.८९.६ सामवेद १८७५ तै.
आ. १.१.१
28. अभिधान चिन्तामणि कोश १.२७.४७
29. ललितविस्तर अध्याय २१, पृ. २३२
30. दिव्यादानव, मैत्रेयावदान, ३ पृ. ३४
31. औपपातिक सूत्र, १६
32. अभिधान चिन्तामणि, २.१३६
33. बृहत्संहिता ५८/४५
34. मानसार ५५/४६
35. औपातिक सूत्र, १६
36. युद्ध १११.१३
37. भागवत पुराण 10.3.9.
38. रघुवंश १०.१०
39. कुमारसंभव ७/४३
40. अभिधान चिन्तामणि १.४८
41. वही, ४.१८
42. बृहत्संहिता ५३/३३
43. मार्कण्डेय पुराण ५९.१२
44. अमरकोश २.९.३२
45. प्राकृत हिन्दी कोश, पृ. ७१०
46. अमरकोश २.८.२.३१
47. अभिधान चिन्तामणि ३.३८०
48. शब्दकल्प भा. ३ पृ. ४
49. बृहत्संहिता अध्याय ४८
50. भगवती सूत्र ११.१३३
51. वही, ११.१३८
52. ज्ञातासूत्र १.१.१९
53. वही, १.१.२५
54. वही, १.१.१४३
55. प्रश्न व्याकरण ४.४
56. औपपातिक सूत्र, १२, ६४
57. राजप्रश्नीय सूत्र ११, औप. सूत्र, १२
58. जीवाजीवानगम ३.२८९
59. वही, ३.३७०
60. कालिका पुराण ८७
61. शब्दकल्पद्रुम-२ पृ. ५७
62. ऋग्वेद ३.३२.१५
63. वही, १.११६.७
64. वही, १०.३२.९
65. स्कन्ध १.२४.२३
66. मत्स्यपुराण २५५.१९
67. वही, २५५.५
68. रघुवंश, ५०.६३
69. भूतहरि १.९७, ३.२०
70. अमरुक शतक, ५४
71. ललित. अ. २१ पृ. २३२
72. वही, ७.७१
73. भगवती, ९.१८२
74. वही, ११.६
75. वही, १३.११५
76. शब्दकोश २, पृ. ६८८

अध्यक्ष

प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

भारतीय दर्शन में कारण-कार्यवाद

डॉ. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

कारण-कार्यवाद दार्शनिक जगत् का एक प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है अर्थात् कोई घटना अकारण नहीं होती है। जब भी कोई घटना घटित होती है तो उस घटना का कोई कारण अवश्य होता है। लगभग सभी दार्शनिक मनीषाओं ने कारण-कार्य सम्बन्धी इस सत्य को स्वीकार किया है। अर्थात् प्रायः सभी दार्शनिक कारण कार्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। कारण-कार्य की परिभाषा में भी प्रायः सभी दार्शनिक एक मत हैं। दार्शनिकों के अनुसार कारण पूर्ववर्ती होता है (प्राक्भावित्वं कारणत्वम्) और कार्य पश्चातवर्ती होता है (पश्चात् भावित्वं कार्यत्वम्) ऐसा कोई दार्शनिक दृष्टिगोचर नहीं होता है जो कार्य को पूर्ववर्ती और कारण को पश्चातवर्ती कहता हो। इससे यह भी सिद्ध है कि कारण जब भी होगा तब पूर्व में होगा और कार्य जब भी होगा तब कारण के बाद में ही होगा।'

कारण-कार्य की विशेषताएँ :-

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक कारण-कार्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। कारण-कार्यवाद के अन्तर्गत कारण-कार्य की निम्न विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

1. कारण पहले होता है और कार्य बाद में अर्थात् काल की दृष्टि से कारण सदैव कार्य के पहले होता है। कार्वेथरीड के अनुसार कार्य कारण की अपेक्षा बाद में ही होता है।
2. कारण पूर्ववर्ती ही नहीं अपितु नियत पूर्ववर्ती होता है अर्थात् कभी ऐसा नहीं कह सकते कि कारण कभी पूर्ववर्ती होता है और कभी

कुछ और दूसरा हो सकता है। नियत पूर्ववर्ती प्रत्येक स्थिति में कारण को पूर्ववर्ती सिद्ध करता है।

3. कारण नियत पूर्ववर्ती ही नहीं, अव्यवहित पूर्ववर्ती होता है। दूरस्थपूर्ववर्ती को कारण न मानने के लिए अव्यवहित पूर्ववर्ती शब्द का उल्लेख किया गया है।
4. कारण कार्य का अव्यवहित पूर्ववर्ती ही नहीं होता अपितु निरुपाधिक पूर्ववर्ती भी होता है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कोई क्रिया पूर्ववर्ती, नियत पूर्ववर्ती और अव्यवहित पूर्ववर्ती होने के बावजूद भी कारण नहीं कहलाती है, क्योंकि वह क्रिया औपाधिक होती है, निरुपाधिक नहीं। जैसे स्विच आन करने पर पंखा चलता है और स्विच ऑफ करने पर पंखा रुक जाता है, किन्तु यहां कारण-कार्य सम्बन्ध इसलिए नहीं, क्योंकि यह किसी उपाधि अर्थात् बिजली पर निर्भर है। बिजली (इलेक्ट्रिक) होगी तभी पंखा चलेगा अथवा नहीं चलेगा।
5. कारण पूर्ववर्ती, नियत पूर्ववर्ती, अव्यवहित पूर्ववर्ती, निरुपाधिक पूर्ववर्ती के साथ-साथ अन्यथासिद्ध से शून्य भी होना चाहिए। अन्यथा सिद्ध से तात्पर्य किसी कार्य से साक्षात् सम्बन्ध न रखने वाले अर्थात् घटोत्पत्ति से पूर्व गधे की उपस्थिति अन्यथा सिद्ध है। अतः घटोत्पत्ति के लिए गधे की उपस्थिति का कोई औचित्य नहीं है, इसीलिए कारण-कार्य की एक विशेषता में अन्यथासिद्ध शून्य कहा गया है।
6. कारण और कार्य पूर्णतया भिन्न-भिन्न भी नहीं होते हैं अर्थात् निरपेक्ष रूप से कोई भी तथ्य केवल कारण या केवल कार्य नहीं होता है। आज का कारण कल का कार्य हो सकता है और कल का कार्य परसों का कारण हो सकता है।

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक कारण-कार्य सम्बन्धी उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करते हैं किन्तु कारण-कार्य के स्वरूप के सन्दर्भ में प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक एकमत नहीं हैं। इसलिए कारण-कार्य के स्वरूप को लेकर भारतीय दर्शन में अनेक वाद दृष्टिगोचर होते हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. सत्कार्यवाद (सांख्य)
2. असत्कार्यवाद (न्याय-वैशेषिक)
3. सत्कारणवाद (विवर्तवाद) अद्वैतवेदान्ती शंकर

4. असत्कारणवाद (प्रतीत्य समुत्पाद) बौद्ध
5. सदसत्कार्यवाद (जैन)

कारण-कार्य के संदर्भ में भारतीय दार्शनिकों के उपर्युक्तवादों की विस्तृत मीमांसा यहां अपेक्षित है—

1. सत्कार्यवाद

यह सांख्यदर्शन का अभीष्ट मत है जिसके अनुसार प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में सत् रहता है। सत्-कार्य अर्थात् कार्य अपने कारण में पहले से निहित रहता है। तात्पर्य यह है कि जो पहले कारण में था वही कार्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। सत्कार्यवादी सांख्य कारण से कार्य की नई उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार कछुआ जब अपने अंगों को निकालता है तो जो अंग पहले से थे वही अभिव्यक्त होते हैं अर्थात् कार्य में कोई नई उत्पत्ति नहीं होती है। सत्कार्य को सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में कहा गया है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥¹

1. असत्करणात्

जो असद् है अर्थात् अस्तित्वविहीन है वह अकारणात् अर्थात् किसी का कारण नहीं हो सकता है। जो है ही नहीं, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है वह भला किसी का कारण कैसे हो सकता है? वन्ध्यापुत्र जिसका कोई अस्तित्व नहीं है, खरगोश की सींग का भी कोई अस्तित्व नहीं है तो ये किसी के कारण नहीं हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्ण कारण में यदि निहित नहीं होगा तो उसकी उत्पत्ति कभी संभव नहीं है। गीता भी कहती है—नासतो विद्यतेभावः अर्थात् असत् से कोई भाव उत्पन्न नहीं हो सकता है।

2. उपादान ग्रहणात्

किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए जैसे कारण का सत् होना आवश्यक है वैसे ही कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण का अस्तित्व आवश्यक है। उपादान कारण मूल होता है। प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व जिस कारण में निहित होता है वह उपादान कारण ही है। मिट्टी का घड़ा अपनी उत्पत्ति के पूर्व मिट्टी के पिंड में, सोने का

आभूषण अपनी उत्पत्ति के पूर्व स्वर्ण पिंड में और लकड़ी की मेज अपनी उत्पत्ति के पूर्व लकड़ी में निहित है तभी तो इन-इन उपादानों से वैसे-वैसे कार्य उत्पन्न होते हैं। दही अपनी उत्पत्ति के पूर्व दूध में निहित है न कि पानी में। तेल अपनी उत्पत्ति के पूर्व तिल में रहता है न कि मिट्टी में या बालू में। अतः उपादान कारण के ग्रहण से ही कार्य होता है।

3. सर्वसम्भवाभावात्

सभी कारणों से सब कार्य संभव नहीं है। मिट्टी से सोने का घड़ा संभव नहीं है। लकड़ी से स्टील की मेज संभव नहीं है। पानी से दही संभव नहीं है। यदि असम्बद्ध कारणों से कार्य की उत्पत्ति स्वीकार कर ली जाये तो किसी से भी किसी कार्य की उत्पत्ति स्वीकार की जा सकती है फिर अलग-अलग कार्यों के लिए अलग-अलग कार्य की आवश्यकता नहीं होती किन्तु सच्चाई यह है कि सभी कार्य सभी कारण से उत्पन्न नहीं होते हैं।

4. शक्तस्यशक्यकरणात्

किसी कार्य की उत्पत्ति उसी कारण से संभव है जिस कारण में उसे उत्पन्न करने का सामर्थ्य हो अर्थात् तेल उत्पन्न करने का सामर्थ्य तिल में है। मिट्टी के घड़े के लिए मिट्टी, स्टील की मेज के लिए स्टील एवं सोने के घड़े के लिए स्वर्ण पिण्ड की अपेक्षा होगी। सैकड़ों कुशल कारीगर भी तांबे से सोने का आभूषण नहीं बना सकते। अतः यह स्पष्ट है कि दही जमाने के लिए दूध की अपेक्षा होगी।

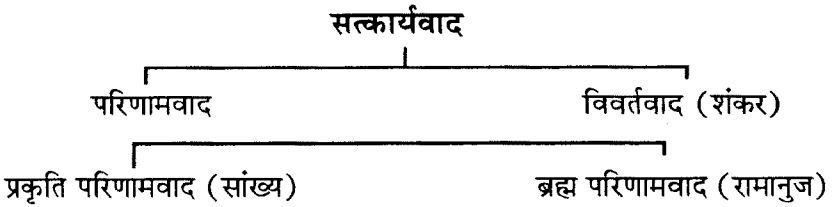
5. कारणभावात्

कारण और कार्य में कोई अन्तर नहीं है। कार्य कारण का भाव है अर्थात् कार्य का अव्यक्त रूप कारण है और कारण का व्यक्त रूप कार्य है। कार्य कारणात्मक होता है, अतः वह अपनी उत्पत्ति के पूर्व सत् होता है।^१ अन्यत्र भी कहा गया है कि कार्य कारण से भिन्न नहीं होता अतः यदि कारण का अस्तित्व है तो कार्य भी उससे अभिन्न होगा, क्योंकि कारण का जो स्वभाव होता है वही कार्य का स्वभाव होता है।^१ अतः कारण और कार्य में अवस्थाभेद का अन्तर है, अन्य कोई अन्तर नहीं है।

सत्कार्यवाद के प्रकार

सांख्य के सत्कार्यवाद को तर्क की कसौटी पर सिद्ध कर लेने के बाद अब प्रश्न होता है कि सत्कार्यवाद के कितने भेद हैं? मूलतः सत्कार्यवाद के दो भेद किये जाते

हैं—1. परिणामवाद, 2. विवर्तवाद। परिणामवाद से तात्पर्य कार्य कारण का वास्तविक परिवर्तन है। जैसे दूध का वास्तविक परिवर्तन दही है, तिल का वास्तविक परिवर्तन तेल है। सांख्य दर्शन सभी प्रकार के परिणाम का कारण जहां प्रकृति को मानता है वहीं रामानुजाचार्य सभी प्रकार के परिवर्तन का कारण ब्रह्म को मानते हैं। सांख्य और रामानुज के परिणामवाद में यही मूलभूत अन्तर है। विवर्तवाद से तात्पर्य है कार्य, कारण का वास्तविक परिवर्तन नहीं अपितु आभासिक परिवर्तन है। जैसे रस्सी में सर्प। रस्सी को देखकर हम सर्प का विवर्त करते हैं न कि सही मायने में सर्प वहां उपस्थित होता है। निम्न चार्ट से यह स्पष्ट है—



सांख्य के सत्कार्यवाद की मीमांसा कर लेने के बाद प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या सांख्य का सत्कार्यवाद तर्क की कसौटी पर सही सिद्ध हो सकता है। सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार जब कारण और कार्य-अभिन्न है तो परिवर्तन और विकास के लिए कोई स्थान नहीं होगा। यदि किसी दर्शन में विकास और परिवर्तन के लिए स्थान नहीं तो वह दर्शन संसार की व्याख्या कैसे कर सकता है? सांख्य की विडम्बना है कि सांख्य विकासवादी होते हुए भी कारण-कार्य की इस रूप में मीमांसा करते हैं जो कथमपि ठीक नहीं है। जहां सांख्य के सत्कार्यवाद का सकारात्मक पक्ष यह है कि किसी अर्थ के घटित होने के लिए उसी प्रकार के कारण की अपेक्षा होगी वहीं इस सिद्धान्त का नकारात्मक पक्ष है कि सांख्य के कारण और कार्य की समरूपता के लिए उसकी एकरूपता स्वीकार कर विकास और परिवर्तन के लिए कोई अवकाश नहीं रखा, जो ठीक नहीं है।

असत्कार्यवाद

कारण-कार्य सम्बन्धी यह मत न्याय-वैशेषिकों का है जिसके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में सत् नहीं रहता है। असत् कार्यवाद अर्थात् कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में असत् होता है। जब कार्य कारण में नहीं होता है तो इसका मतलब वह नया उत्पन्न होता है, इसीलिए न्याय-वैशेषिक कार्य की उत्पत्ति बिल्कुल

नया मानते हैं। न्यायवैशेषिक दार्शनिक सांख्य के सत्कार्यवाद के विपरीत कार्य को कारण से सर्वथा नया मानते हैं। उनके अनुसार कारण से कार्य का नया आरम्भ होता है, इसीलिए इस मत को आरम्भवाद भी कहते हैं। कार्य के रूप में नये अध्याय का सृजन होता है।

अपने सिद्धान्त की पुष्टि में न्याय-वैशेषिक दार्शनिक सांख्य से कुछ प्रश्न करते हैं जिससे सांख्य के सत्कार्यवाद का खण्डन और असत्कार्यवाद का मंडन होता है, जो इस प्रकार है⁷—

1. यदि सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य एक है तो अलग-अलग नाम की संज्ञा क्यों? दोनों एक हैं तो दोनों के एक नाम होने चाहिए। जबकि एक का नाम 'कारण' है तो दूसरे का नाम 'कार्य' है। नाम या संज्ञा का पार्थक्य यह सिद्ध करता है कि दोनों अलग-अलग हैं।
2. यदि कारण और कार्य एक हैं तो दोनों के स्वरूप में अन्तर क्यों है? कारण अर्थात् मिट्टी का पिण्ड और कार्य अर्थात् मिट्टी के घड़े का स्वरूप एक जैसा नहीं है। पिण्ड का आकार अलग है तो घड़े का आकार भी पृथक् है। यदि दोनों के आकार एक जैसे नहीं हैं तो दोनों एक न होकर पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् कारण और कार्य का स्वरूप पृथक् है।
3. यदि कारण और कार्य एक हैं तो दोनों के उपयोग में अन्तर क्यों? अर्थात् कारण का पृथक् उपयोग होता है तो कार्य का पृथक् उपयोग होता है। लकड़ी जलाने के काम आती है तो लकड़ी की कुर्सी बैठने के काम आती है अतः लकड़ी और लकड़ी की कुर्सी में अन्तर है, अतः सत्कार्यवाद ठीक नहीं है।
4. यदि कारण और कार्य एक है तो रूपान्तरण की जरूरत नहीं होनी चाहिए। जबकि हम देखते हैं कि कारण का रूपान्तरण होता है और इसके लिए निमित्त कारण की अपेक्षा होती है, अतः सत्कार्यवाद ठीक नहीं है।

अतः जहां सत्कार्यवादी कारण और कार्य में अभेद मानते हैं वहीं न्याय-वैशेषिक दोनों में भेद मानते हैं। उनके अनुसार कारण और कार्य दोनों के स्वरूप, शक्ति और विन्यास में भेद दृष्टिगोचर होता है अर्थात् कार्यकारणयोः स्वरूप शक्ति संस्थान भेदस्य प्रत्यक्ष सिद्धत्वात्⁸ अतः कारण और कार्य में भेद है।

3. सत्कारणवाद

आचार्य शंकर सांख्य की तरह सत्कार्यवादी हैं। वे भी यह मानते हैं कि कदापि और कथमपि कार्य कारण से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। जब कार्य कारण से भिन्न और स्वतन्त्र नहीं है तो दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि कारण ही सत् है, इसीलिए इस सिद्धान्त से सत्कारणवाद कहा जाता है। इसे विवर्त इसलिए कहा जाता है, क्योंकि कि यहां कार्य को विवर्त माना गया है अर्थात् कार्य कारण का वास्तविक रूपान्तरण न होकर आभासरूप है। अपने कारण-कार्य सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि कार्यरूप सत्ता तो मिथ्या है। वस्तुतः कारण से भिन्न कार्य नहीं है। कहा है— न हि कारणव्यतिरेकेण कार्यनाम वस्तु।⁹

आचार्यशंकर -न्याय वैशेषिक के असत्कार्यवाद का खण्डन करते हुए कुछ तर्क देते हैं, जो इस प्रकार है—

1. मिट्टी से घड़ा तथा सोने से सोने के आभूषण को पृथक् नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि कार्य-कारण में अभेद सम्बन्ध है। अतः कारण से कार्य की उत्पत्ति के आधार पर भेद नहीं किया जा सकता है।
2. असत्कार्यवादियों के अनुसार यदि कार्य पहले से कारण में है तो निमित्त कारण का क्या प्रयोजन है? आचार्य शंकर के अनुसार निमित्त कारण से किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है अपितु द्रव्य में निहित शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। कार्य तो केवल कारण की अभिव्यक्तिमात्र है न कि नूतन उत्पत्ति। अतः कार्य को कारण का अवस्था विशेष मात्र मानना उचित है।¹⁰
3. असत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य दोनों सही नहीं हो सकते। शंकराचार्य के अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् वंध्या का पुत्र जो असत् है उसे वीर या बहादुर कैसे कह सकते हैं?
4. असत्कार्यवादी के अनुसार कारण के नष्ट होने पर कार्य का आविर्भाव होता है। आचार्य शंकर के अनुसार यह मिथ्या प्रलाप है। कारण कभी नष्ट नहीं होता। दही बनकर भी दूध नष्ट नहीं होता, अंकुर बनकर भी बीज नष्ट नहीं होता है।¹¹
5. असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य नया उत्पन्न होता है, अतः कारण और कार्य पृथक्-पृथक् है। आचार्य शंकर के अनुसार जो कार्य अभिव्यक्त होता है वह

कारण के रहने पर ही होता है, कारण के न रहने पर अभिव्यक्त नहीं होता है, अतः कारण और कार्य में अभेद सम्बन्ध है।

इस प्रकार आचार्य शंकर न्याय-वैशेषिकों के असत्कार्यवाद का खण्डन करते हुए सत्कार्यवाद के सत्कारणवाद स्वरूप को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार एक मात्र कारण ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। समस्त नामरूपादि जगत् स्वयं तो मिथ्या है, केवल ब्रह्म के विवर्तरूप में ही सत्य है।¹² यही शंकर का विवर्तवाद है। अतः शंकर के विवर्तवाद के अनुसार केवल कारण की ही एकमात्र सत्ता है, कार्य की नहीं। मिट्टी ही सत् है। मिट्टी के अनेक विकार हो सकते हैं किन्तु वे विवर्त रूप होंगे।¹³

असत्कारणवाद

गौतमबुद्ध के चार आर्यसत्य में द्वितीय आर्यसत्य ही दुःख समुदय अर्थात् दुःखों का कारण है। उनके अनुसार दुःख अकारण नहीं है, उनके भी कारण है। संसार की कोई घटना जब अकारण नहीं होती तो दुःख भी अकारण नहीं है। चूंकि बौद्ध शाश्वतवाद में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार कुछ भी शाश्वत या नित्य नहीं है। सब कुछ उत्पन्न और नष्ट होता है। इसीलिए वे अनित्यवादी कहलाते हैं। कालान्तर में उनके अनुयायी क्षणिकवादी कहलाये, क्योंकि सर्व क्षणिकं को उन्होंने महत्त्व दिया। जब सबकुछ अनित्य है या क्षणिक है तो यहां पर यह कहना भी प्रासंगिक होगा कि कारण भी असत् है। बौद्ध कारण को सत् नहीं मान सकते। ऐसा करने पर उनका अनित्यवाद या क्षणिकवाद का सिद्धान्त धराशायी हो जायेगा। इसीलिए बौद्ध दार्शनिकों का मानना है कि कारण के असत् अर्थात् नष्ट होने पर कार्य उत्पन्न होता है। अतः बौद्ध दार्शनिक कारण को असत् मानते हैं।

बौद्ध दर्शन का कारण कार्य सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद के नाम से जाना जाता है। प्रतीत्य का अर्थ है ऐसा होने पर और समुत्पाद का अर्थ है ऐसा होता है। तात्पर्य है कि कारण के होने पर कार्य होता है। कारण-कार्य के इस चक्र को जन्म-मरण चक्र, भवचक्र कहा गया है। चूंकि इस चक्र में बारह अंग है, अतः इसे द्वादश निदान कहा गया है। जो इस प्रकार है— 1. अविद्या, 2. संस्कार, 3. विज्ञान, 4. नामरूप, 5. षडायतन, 6. स्पर्श, 7. वेदना, 8. तृष्णा, 9. उपादान, 10. भव, 11. जाति, 12. जरा-मरण।

इस प्रकार वर्तमान जीवन का कारण भूत जीवन और भविष्य जीवन का कारण

वर्तमान जीवन है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक पूर्ववर्ती अपने उत्तरवर्ती पर छाप छोड़कर स्वयं नष्ट हो जाता है। कारण नष्ट होने के कारण ही असत्कारणवाद सत् है और उत्तरवर्ती पर अपनी छाप छोड़ जाता है। अतः स्मृति, पुनर्जन्म और मोक्ष संभव है। तात्पर्य यह है कि बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद (असत्कारणवाद) को मानते हुए भी स्मृति, पुनर्जन्म और मोक्ष की व्याख्या करने में सफल होते हैं। इसीलिए प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रशंसा करते हुए कहते हैं -

**यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम् ।
देशयामास समबुद्धस्तं वंदे वदतां वरम ॥¹⁴**

अर्थात् संक्षेप में प्रतीत्यसमुत्पाद व्यावहारिक दृष्टि से प्रपञ्च है और पारमार्थिक दृष्टि से प्रपञ्च का उपशम निर्वाण है।

सदसत्कार्यवाद - जैन दर्शन एक समन्वयवादी दर्शन है। अनेकान्तवाद को स्वीकार करने के कारण जैन दर्शन प्रायः दार्शनिक सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करता है। कारण-कार्यवाद के सिद्धान्त में भी जैनदर्शन किसी प्रकार के एकान्तवाद को नहीं मानता है। जैन दर्शन को कोरा सत्कार्यवाद स्वीकार नहीं है, क्योंकि सत्कार्यवाद को स्वीकार करने पर विकास और परिवर्तन के लिए अवकाश नहीं रह जाता है। कोरा असत्कार्यवाद भी स्वीकार नहीं है, क्योंकि असत्कार्यवाद मानने पर परिवर्तन और विकास का आधार धराशायी हो जायेगा। किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति सिद्ध हो जायेगी। फिर गति में सहायक अधर्मास्तिकाय और स्थिति में सहायक धर्मास्तिकाय हो जायेगा जबकि ऐसा नहीं हो सकता।

अतः जैन के सदसत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्ण कारण में सत् भी होता है और असत् भी होता है। जैसे कार्य घड़ा मिट्टी में सत् भी है और असत् भी। चूँकि मिट्टी का घड़ा मिट्टी से बनेगा, अतः सत् है किन्तु मिट्टी के आकार (कारण) से घड़े का आकार (कार्य) भिन्न है, अतः असत् भी है। जैन दर्शन के अनुसार गुणपर्यायवद् द्रव्यम्¹⁵ अर्थात् द्रव्य गुण और पर्याय से युक्त है। द्रव्य के इसी स्वरूप से सदसत्कार्यवाद को समझा जा सकता है। कार्यरूप द्रव्य गुण की दृष्टि से कारणरूप द्रव्य में अन्तर्निहित रहता है अतः सत्कार्यवाद सिद्ध है। कार्यरूप द्रव्य पर्याय की दृष्टि से कारण रूप द्रव्य से सदैव नूतन होता है, अतः सदसत्कार्यवाद सिद्ध है। कहा भी गया है -

**“ऊर्ध्वतादिमसामान्यं पूर्वापर गुणोदयम्।
पिंडस्थादिक संस्थानानुगता मृद्यथास्थिता ॥”¹⁶**

अर्थात् पूर्ववर्ती मिट्टी में ही उत्तरवर्ती स्थास, कुसुल आदि कारण-कार्य सम्बन्ध से निहित हैं।

इस प्रकार यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि जहाँ सांख्य-योग दार्शनिक कारण और कार्य में अभेद सम्बन्ध स्वीकार कर विकास प्रगति, परिवर्तन का मार्ग अवरुद्ध करते हैं वहीं कारण और कार्य में समग्रतः भेद स्वीकार कर न्याय-वैशेषिक बालू से तेल निकालने एवं पानी से दही जमाने की निरर्थक कोशिश करते हैं वहीं जैन दर्शन कारण-कार्यवाद के अन्तर्गत दोनों प्रकार के विरोधों में सामञ्जस्य स्थापित करता है अर्थात् कारण और कार्य एक दूसरे से न तो पूर्णतया भिन्न है और न अभिन्न, अतः सापेक्ष है। संक्षेप में कारणता के संदर्भ में जैनदर्शन के निम्न निष्कर्ष दृष्टिगोचर होते हैं -

1. कारण के बिना कार्य नहीं होता है।
2. कारण सदृश ही कार्य होता है।
3. कारण भेद से कार्यभेद भी होता है।
4. कारण और कार्य पूर्वोत्तर कालवर्ती होते हैं।
5. कारण-कार्य में कथंचित भेदाभेद है।
6. उपादान और निमित्त दो कारण होते हैं।
7. उपदान की योग्यता के सद्भाव में भी निमित्त के बिना कार्य नहीं होता है।

कारण-कार्यवाद की मीमांसा करते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रायः भारतीय दर्शनों में दो कारण माने गये हैं - 1. उपादान कारण 2. निमित्त कारण। नैयायिकों ने तीन कारण बताये हैं¹⁷-1. समवायि कारण 2. असमवायिकारण 3. निमित्तकारण। जिसमें कार्य समवेत हो वह समवायिकारण कहलाता है। पट तन्तु में समवेत है, अतः तन्तु समवायि कारण है।¹⁸ जो समवाय सम्बन्ध से समवायिकारण में रहता हो तथा समवायिकारण के कार्य का जनक हो वह असमवायिकारण कहलाता है। तन्तु रूप पटरूप का असमवायिकारण है।¹⁹ समवायिकारण केवल द्रव्य का साधर्म्य है अर्थात् केवल द्रव्य ही समवायिकारण होता है। असमवायिकारण केवल गुण, कर्म का साधर्म्य है। अतः केवल गुण, कर्म ही असवायिकारण होते हैं।²⁰

समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न निमित्तकारण है। अतः किसी कार्य की उत्पत्ति में तीनों कारण रहते हैं। पर कार्य के लिए तन्तु समवायिकारण। तन्तु रूप या संयोग असमवायिकारण, वेमा और जुलाहा निमित्त कारण हैं। इसके अतिरिक्त योगसूत्र के व्यास भाष्य में नौ प्रकार के कारणों का भी उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है²¹—

1. **उत्पत्तिकारण** - बीज पौधे का उत्पत्तिकारण है।
2. **स्थितिकारण** - जल, मिट्टी, सूर्य, प्रकाश पौधे के स्थितिकारण हैं।
3. **अभिव्यक्तिकारण** - प्रकाश जिसके कारण अंधेरे में घट व्यक्त होता है।
4. **विकारकारण** - जामन जिससे दूध में विकृति होकर दही बनता है।
5. **प्रत्यय कारण** - दुर्गन्ध से सड़ी हुई लाश का अनुभव होता है, अतः वह प्रत्यय कारण है।
6. **प्राप्ति कारण** - पुरुष को प्रकृति से अलग जानना मोक्ष प्राप्ति का कारण है।
7. **वियोग कारण** - वैराग्य संसार में आसक्ति का वियोग कारण है।
8. **अन्यत्व कारण** - जो दूध को दही, छाछ, मक्खन आदि में परिवर्तित करता है।
9. **धृतिकारण** - जैसे नींव मकान को खड़ा करने का कारण है।

उपर्युक्त विवरण से सिद्ध होता है कि कारण-कार्यवाद भारतीय दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है। अन्य दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रायः इसी कारण-कार्यवाद पर अवलम्बित हैं। प्रायः सभी भारतीय दर्शन के कारण-कार्यवाद उनके मूलभूत सिद्धान्त के अनुसार है। जैसे सांख्यदर्शन में सब कुछ प्रकृति के विकार हैं तो यहाँ प्रकृति परिणामवाद है। रामानुज सब कुछ ब्रह्म का परिणाम मानते हैं, अतः यहाँ ब्रह्म परिणामवाद है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में परिवर्तन परमाणु और ईश्वर के माध्यम से होता है। परमाणु के स्कन्ध नये होते हैं, अतः असत्कार्यवाद यहाँ मान्य है। बौद्ध दार्शनिक अनित्यवाद को मानने के कारण असत्कारणवाद में विश्वास करते हैं। शंकराचार्य जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं और 'एकमेव परमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म' मानकर सत्कारणवाद और विवर्तवाद में विश्वास करते हैं। जैन दार्शनिक अनेकान्तवादी होने के कारण सदसत्कार्यवाद को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शनों में कारण-कार्यवाद सिद्धान्त उनके मूल दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार होने के कारण ही स्वरूपतः भिन्न-भिन्न है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. तर्कसंग्रह - 17
2. अन्यथासिद्धशून्यस्य नियत पूर्ववर्तिता - भा. 4.16
3. ग्रीक दर्शन, डॉ. छोटेलाल त्रिपाठी, पृ. 228
4. सांख्यकारिका - 9
5. कारणभावाच्च कार्यस्य कारणात्मकत्वात् - तत्त्व कौमुदी
6. कारणभावादिति कारण स्वभावात् । जयमंगला ।
7. न्याय कंदली, 341
8. वही, 343
9. तै. उप. भाष्य 2/1
10. ब्र.सू.शा.भा. 2/2/17
11. वही, 2/1/18
12. छान्दोग्य उप. भाष्य - 7/3/2
13. ब्र.सू.शा.भा. 2/1/18
14. माध्यमिक कारिका
15. तत्त्वार्थ सूत्र
16. द्रव्यानुयोगतर्कणा
17. भाषा परिच्छेद, 17
18. वही, 18
19. तर्क संग्रह - 18
20. भाषा परिच्छेद, 135
21. योगसूत्र (1/28) के व्यास भाष्य से

उपनिदेशक

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

जैन आगमों में वाणी-विवेक के सूत्र

मुनि विनोद कुमार

मनुष्य के विकास में वाणी का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यदि मनुष्य के पास वाणी की विकसित संपदा नहीं होती तो इतने विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मनुष्य और पशु में जो भेद रेखा है उसमें वाणी प्रमुख है। वाणी के द्वारा ही मनुष्य अपने चिन्तन को दूसरों तक पहुँचाता है और इसी के द्वारा अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पाता है। जीवन में आने वाली समस्याओं का समाधान भी वाणी के द्वारा ही सम्भव है। वाणी मानव जीवन की एक बहुत बड़ी उपकारिणी है। वाणी की उपयोगिता तभी सिद्ध होती है जब उसका उपयोग संयत और विवेकपूर्वक होता है। विवेक के अभाव में समाधान देने वाली वाणी समस्या उत्पन्न कर देती है। जीवन में सफलता पाने के लिए वाणी का विवेक अत्यावश्यक होता है। विवेकशून्य वाणी वक्ता को वैसे ही गिरा देती है जैसे लगाम रहित घोड़ा अपने सवार को। इस प्रकार वाणी का महत्त्व संयम और विवेक सापेक्ष है।

दैनिक व्यवहार में आने वाली प्रयोगात्मक भाषा कैसी हो? इसका मार्गदर्शन जैन आगमों में काफी मिलता है। यद्यपि जैन आगमों में जितने भी उपदेश दिए गए हैं वे प्रायः साधुओं को सम्बोधित करके दिए गए हैं पर इसका अर्थ यह नहीं कि ये सूत्र गृहस्थों के लिए नहीं हैं। आगमों के सूत्रों का लक्ष्य व्यक्ति का आत्म विकास रहा है और उसकी उपयोगिता सार्वभौमिक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। भले ही कोई साधु हो या गृहस्थ, इन सूत्रों को जो भी, जितना भी अपने जीवन में उतारेगा वह उतना ही लाभान्वित होगा। वाणी की कुछ ऐसी कसौटियाँ शास्त्रों में बतलाई गई हैं जिन पर कसकर यदि वाणी का प्रयोग किया जाए तो व्यक्ति अनेक समस्याओं से स्वयं को बचा सकता है।

वाणी का विवेक अपने आप में कला भी है और विज्ञान भी। जो व्यक्ति

इस विवेक से युक्त होता है वह आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में सफलता प्राप्त कर सकता है। भगवान महावीर ने वाणी विवेक के बहुत सुन्दर सूत्र दिए, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :-

1. **बिना पूछे नहीं बोलना-** (नापुट्टो वागरे किंचि)¹ जिस प्रकार पानी का मूल्यांकन प्यासा ही कर सकता है उसी प्रकार ज्ञान का मूल्यांकन जिज्ञासु व्यक्ति ही कर सकता है। इसलिए जब तक जिज्ञासु व्यक्ति प्रश्न न करे तब तक मौन रहना ही उचित होता है। अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए किसी के बिना पूछे बोलना या सलाह देना एक प्रकार का अज्ञान ही है। यहाँ अनपेक्षित रूप से बिना पूछे बोलने का निषेध है। कुछ सूचनाएं ऐसी भी होती हैं जिन्हें बिना पूछे ही बताना आवश्यक होता है। वहाँ पर इस सूत्र का अपवाद भी है।

2. **बीच में नहीं बोलना—**(भासमाणस्स अंतरा)² बीच में बोलना दो तरह से होता है-

- (1) दो व्यक्ति आपस में बात कर रहे हो तब उनके बीच में बोलना। ऐसा करने से सामान्य शिष्टाचार का उल्लंघन भी होता है और दूसरों के कार्य में बाधा भी उत्पन्न होती है।
- (2) कोई व्यक्ति कुछ कर रहा हो तब बिना कथन के सन्दर्भ को समझे बीच में टोकना। जैसे :- 'यह ऐसा है, वैसा नहीं' या 'आपने यह कहा था, वह नहीं।'³

यदि कुछ कहना अत्यन्त अपेक्षित हो तो बीच में बोलने की आज्ञा लेकर तथा बाधा के लिए क्षमा याचना कर अपनी बात कही भी जा सकती है। लेकिन अपनी विद्वता प्रदर्शन करने के लिए दूसरों के बीच में बोलना तुच्छता का द्योतक होता है।

3. **वाचालता नहीं करना⁴**- अनावश्यक असंयमित बोलने वाले को वाचाल कहते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में 'वाचाल' शब्द के लिए 'मुहरी' शब्द का प्रयोग हुआ है।⁵ व्याख्या साहित्य में 'मुहरी' शब्द के तीन अर्थ मिलते हैं⁶—

- (1) **मुखारि-** जिसका मुख ही अरि-शत्रु है अथवा जिसका मुँह (वचन) इहलोक और परलोक का उपकार करता है।
- (2) **मुधारि-** असम्बन्ध भाषा बोलने वाला अर्थात् जो पात्र-अपात्र का भेद किए बिना सूत्र का अर्थ बता देता है या 'यह ऐसा ही है' ऐसा ऐकान्तिक आग्रह पूर्वक बोलता है।⁷
- (3) **मुखर-** वाचाल, अनर्गल प्रलाप करने वाला।

आगमों में वाचालता के अनेक दुष्परिणाम बताये हैं -

- (1) वाचालता व्यक्ति को पतन की ओर ले जाती है। नीति शास्त्र में कहा भी गया है—

मौखर्यं लाघवकरं, मौनमुन्नतिकारकम्।

मुखरौ नुपुरौ पादै, हारः कण्ठे विराजते ॥

वाचालता अवनति और मौन उन्नति करने वाला होता है। जैसे—वाचाल होने के कारण नुपुर पैरों में बांधा जाता है और मौन के कारण हार गले में विराजित होता है।

- (2) वाचालता स्वयं के लिए तो अहितकर है ही, दूसरों के लिए भी अहितकर होती है। जैसे—अंट-संट बोलने वाला वाचाल अविनीति व्यक्ति कोमल स्वभाव वाले दूसरों को भी क्रोधित कर देता है।⁹
- (3) वाचाल व्यक्ति अबहुश्रुत कहलाता है।⁹
- (4) सड़े हुए कानों वाली कुतिया के समान सर्वत्र तिरस्कृत होता है, अविनीत माना जाता है।¹⁰
- (5) निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।¹¹
- (6) पाप श्रमण कहलाता है।¹²

(4) **निरर्थक नहीं बोलना**¹³ - ऐसी बातें जिनका कोई अर्थ ही न हो, नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि निरर्थक बोलने से शक्ति और समय का दुरुपयोग तो होता ही है, वक्ता की गम्भीरता और सामाजिक प्रतिष्ठा में भी कमी आती है। व्याख्या साहित्य में¹⁵ इसका एक सुन्दर उदाहरण इस प्रकार मिलता है—

एष बन्ध्यासुतो याति, खपुष्पकृतशेखरः।

मृग तृष्णाभिसि स्नातः, शशश्रृंगधनुर्धरः ॥

देखो यह बांझ का बेटा जा रहा है। यह आकाश कुसुमों का सेहरा बांधे हुए है। इसने मृग तृष्णा में स्नान कर हाथ में खरगोश के सींग का धनुष ले रखा है। बांझ के पुत्र, आकाश कुसुम, मृगतृष्णा में जल तथा खरगोश के सींग का अस्तित्व ही नहीं होता। इस प्रकार के अनर्गल प्रलाप करने से श्रोता में भ्रम पैदा होता है। इसलिए इस प्रकार के अर्थहीन शब्दों का प्रयोग वर्जित किया गया है।

5. परिमित बोलना- (मियं भासे¹⁵) परिमित का अर्थ है अल्प। इसके दो प्रकार हैं¹⁶—

- (1) किसी के पूछने पर भी एक बार या दो बार बोलना या प्रयोजन— आवश्यकता होने पर बोलना मित-भाषण या अल्प भाषण है। यहाँ आवश्यकता और अनावश्यकता का विवेक करना जरूरी है। जो अनावश्यक बोलता है वह कम बोलने पर भी अल्पभाषी नहीं है और जो आवश्यकतावश अधिक बोलता है वह अधिक बोलने पर भी अल्पभाषी ही है। तात्पर्य यह है कि जो बात थोड़े शब्दों में ही समाप्त होने योग्य है उसे अनावश्यक लम्बा नहीं करना चाहिए।
- (2) उच्च स्वर में न बोलना।

मित भाषण के लाभ :—

- (1) समय और शक्ति का अपव्यय नहीं होता।
- (2) **पद्म लेश्या में परिणति :-** जीव के चारों तरफ एक आभामंडल होता है। रंगों की प्रधानता के आधार पर यह छः प्रकार का होता है— कृष्ण, नील, कापोत, तेजसू, पद्म और शुक्ल। इनमें प्रथम तीन शुभ तथा अन्तिम तीन अशुभ होती हैं। ये लेश्याएं जीव की भावधारा को प्रभावित करती हैं तथा जीव की शुद्धाशुद्ध भावधारा इन लेश्याओं को प्रभावित करती हैं अर्थात् जैसी लेश्या वैसी भावधारा तथा जैसी भावधारा वैसी लेश्या।

इनमें पद्म लेश्या शुभ लेश्या में परिणत व्यक्ति के लक्षण इस प्रकार हैं— उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त अल्प होते हैं, प्रशान्त चित्त आत्मानुशासी, समाधियुक्त, उपधान करने वाला, अत्यल्प भाषी, उपशान्त जितेन्द्रिय होता है।¹⁸ इस प्रकार मितभाषण से भावधारा निर्मल होने से अनेक गुणों की वृद्धि होती है।

(6) **मर्मभेदी वचन नहीं बोलना**¹⁹— (णोयं वम्फेज्ज मम्मयं) ‘मर्म’ शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे— रहस्यमय, गुप्त बात, कटुक, पीड़ाकारक वचन। चूर्णिकार ने मर्म शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है— ‘म्रियते येन तत् मर्म’— जिससे व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है, वह मर्म है।²⁰ जैसे काने को काना, नंपुसक को नंपुसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना मर्मभेदी वचन है। यह सत्य होने पर भी मर्म को स्पर्श करता है तथा मानसिक उत्पीड़न उत्पन्न करता है।²¹ इसलिए यथार्थ बात भी वही वचनीय है जो अनवद्य, मृदु और संदेहरहित हो।²² इसी प्रकार, जन्म और कार्य सम्बन्धी वचन भी मर्मभेदी की श्रेणी में आते हैं। जैसे— ‘तू जार का पुत्र है’, ‘तू क्षुद्र है’, ‘तू दास है’ आदि। इन तीनों ही

प्रकार के मर्मभेदी वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि वाणी की कठोरता लम्बे समय तक कष्टदायक होती है। कहा भी जाता है कि लोहे के काँटे अल्पकाल तक दुःखदायी होते हैं और वे भी शरीर से सरलता पूर्वक निकाले जा सकते हैं किन्तु दुर्वचन रूपी काँटे सहजतया नहीं निकाले जा सकने वाले और महा भयानक होते हैं।

किसी व्यक्ति के लिए लज्जाजनक, अपवादजनक या निन्दनीय आचरण सम्बन्धी गुप्त बात भी 'मर्म' कहलाती है। किसी व्यक्ति की दुराचरण सम्बन्धी कोई बात किसी भी माध्यम से यदि जानकारी में आ जाए तो उसे किसी दूसरे को कहना वर्जनीय है।²³

मर्मभेदी वचन के परिणाम—

- (1) मर्मविद्ध व्यक्ति स्वयं आत्म-हत्या कर सकता है।²⁴
- (2) वह मर्मकारी वचन कहने वाले की हत्या कर सकता है।²⁵
- (3) मर्मविद्ध व्यक्ति मर्मकारी वचन कहने वाले को मार-पीट कर या बाँध कर कष्ट दे सकता है।²⁶
- (4) मर्मभेदी वचन कहने वाला शिक्षा प्राप्ति के अयोग्य होता है।²⁷
- (5) ऐसे वचन से शत्रुता बढ़ती है।²⁸
- (6) मर्मभेदी वचन बोलने वाला मान-सम्मान नहीं पाता।²⁹

7. चुगली नहीं खाना³⁰— (पिट्ठिमंसं न खाएज्जा) परोक्ष में किसी का दोष कहना चुगली खाना कहलाता है। इससे मिले हुए मनो में दरार पड़ जाती है। यह इतना घृणास्पद कार्य है कि इसे 'पीठ का मांस खाने' के तुल्य माना जाता है।

चुगली के परिणाम—

- (1) चुगलखोर को मोक्ष नहीं मिलता।³¹
- (2) चुगलखोर लोक में पूज्य नहीं होता।³²

8. तिरस्कार नहीं करना³³— (ण कत्थई भास विहिंसएज्जा) किसी के द्वारा अज्ञानवश या प्रमादवश कोई भूल या स्खलना हो जाने पर उसका अपमान करना तिरस्कार कहा जाता है। हिंसा तीन तरह से होती है— मन से, वचन से और काया से। किसी का तिरस्कार करना भाषा की हिंसा है। निर्वाण प्राप्ति की अयोग्यता के चौदह लक्षण बतलाए गए हैं उनमें पांचवां है 'जो दूसरों की भूल देखकर उसका तिरस्कार करता है।' तिरस्कार करना अविनीतता का लक्षण है, विनीत व्यक्ति किसी का तिरस्कार नहीं करता।³⁴

यह एक सापेक्ष सूत्र है। इसका भाव यह है कि विनीत व्यक्ति वैसे तो किसी का तिरस्कार नहीं करता किन्तु अयोग्य को धर्म में प्रेरित करने की दृष्टि से या उसमें सुधार की दृष्टि से उसका थोड़ा तिरस्कार करता है।³⁵ जिस प्रकार चिकित्सक रोगी को कड़वी दवा देता है या शल्य चिकित्सा करता है वह उसे कष्ट देने के लिए नहीं, आरोग्य देने के लिए करता है। इसके पीछे द्वेष का भाव नहीं, सेवा का भाव रहता है। उसी प्रकार कठोर शब्दों में तिरस्कार कुछ अपेक्षाओं से हितकर भी होता है। कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि मृदु शब्द काम नहीं करते। वहाँ यदि हित की दृष्टि से कठोर शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो व्यक्ति पतित होते होते बच जाता है। मुनि रथनेमी की घटना³⁶ इसका सुन्दर उदाहरण है। जब रथनेमी का मन संयम से विचलित हुआ और उसने राजीमती के सामने भोग का प्रस्ताव रखा तब राजीमती ने बहुत ही कड़े शब्दों में रथनेमी को प्रबोध दिया। रथनेमी को राजीमती ने 'यशकामिन्' से सम्बोधित किया। उस समय यह शब्द रोष में आकर क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त किया जाता था।³⁷ तिरस्कार करते हुए राजीमती ने कहा- "धिक्कार है तुम्हें! जो तू क्षणभंगुर जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है, इससे तो तेरा मरना श्रेय है।"³⁸

ऐसा भी कहा जा सकता है कि यह तिरस्कार रथनेमी का नहीं, उसकी भूल का था, क्योंकि विनीत व्यक्ति दोषी का नहीं, दोष का तिरस्कार करते हैं। दोनों के दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अन्तर होता है। सुधार की दृष्टि से भी कहना आवश्यक हो तो इस बात का विवेक रखना जरूरी होता है कि कठोर शब्दों का प्रयोग किसके प्रति हो। विनीत और आत्मार्थी व्यक्ति ऐसे शब्दों को सुनकर पुनः सत्पथ में स्थिर हो जाते हैं, जबकि सामान्य व्यक्ति इसे मन पर ले लेता है। दोष मुक्त करने के लिए शुभ भावों से किए गए तिरस्कार का समर्थन तो है परन्तु आध्यात्मिक और व्यावहारिक दृष्टि से यही उचित है कि यह कार्य मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेक पूर्वक ही किया जाना चाहिए। जैसा कि आचार्य श्री तुलसी ने कहा—

भूल किसी की देखकर, कहें उसे एकान्त।

भाषा मधुर सुझाव की, बोलें होकर शान्त ॥

9. सोच समझकर बोलना³⁹ (अणुवीड़ वियागरे)— समझदार व्यक्ति पहले अच्छी तरह सोचता है फिर बोलता है। अज्ञानी बिना सोचे बोलता है फिर उसे सोचना पड़ता है। इसलिए जब भी बोलना हो तब पहले पीछे का अच्छी तरह चिन्तन कर फिर बोलना चाहिए। बोलने से पहले यह सोचना चाहिए कि वह वचन अपने लिए, दूसरे के लिए या दोनों के लिए कष्टकर तो नहीं है। कहा भी है- 'पुर्व्विंबुद्धिए पेहिता, पच्छा वक्कामुदाहरे'- पहले बुद्धि से सोच कर फिर बोले।

10. निश्चयकारिणी भाषा नहीं बोलना⁴⁰— भगवान महावीर ने मुनियों को सत्य महाव्रत की सुरक्षा के लिए एक विशेष निर्देश दिया कि वह निश्चयात्मक भाषा का विवेक रखे। मुनि जब तक केवलज्ञानी नहीं होता तब तक वह छद्मस्थ होता है। सभी घटनाओं का उसे निश्चित ज्ञान नहीं होता। इसलिए भूत, वर्तमान और भविष्य के विषय में निश्चित बोलने से असत्य का दोष लग सकता है। उदाहरणतः 'मैं कल आऊँगा', 'मैं अमुक काम करूँगा' आदि। हो सकता है परिस्थिति इस प्रकार बदले कि कही हुई बात न हो पाए। इसलिए निश्चयकारिणी भाषा नहीं बोलनी चाहिए। इन बातों को इस प्रकार कहा जा सकता है— 'कल आने का भाव या विचार है, 'अमुक काम कल करने का भाव या चिन्तन है'— अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी जिस तथ्य की सम्यक् जानकारी न हो या उसमें शंका हो 'उसे यह ऐसा ही है' इस प्रकार निश्चय रूप से नहीं कहना चाहिए।⁴⁰ निश्चयकारिणी भाषा न बोलने के प्रसंग में वृत्तिकार का अभिमत इस प्रकार है—

अन्नह परिचिंतिज्जइ, कज्जं परिणमइ अन्नहा चेव ।

विहिवसयाण जियाणं, मुहुत्तमेव पि बहुविग्घं ॥ (सुखबोधा, पत्र 1)

अर्थात्—प्रत्येक प्राणी भाग्य के अधीन है, कर्मों के अधीन है। वह सोचता कुछ है और हो कुछ और ही जाता है। जीवन का प्रत्येक क्षण विघ्नों से भरा पड़ा है। इसलिए भविष्य के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।)

निश्चयकारिणी भाषा के वर्जन का एक लाभ यह भी है कि इससे वक्ता की बात का मूल्य बढ़ जाता है। इसलिए वह पूज्यता की अर्हता प्राप्त करता है।⁴¹ इसके विपरीत, जो व्यक्ति बार-बार निश्चयकारिणी भाषा बोलता है, सही न निकलने पर उसकी बात बार-बार झूठला दी जाती है। यह उसके समाधि (मानसिक क्लेश) उत्पन्न करने का कारण बनता है।⁴²

11. आरोप नहीं लगाना— किसी भी व्यक्ति पर उसके आचार को लेकर मिथ्या आरोप नहीं लगाना चाहिए। किसी में कोई कमी हो, तो किसी के दिल में चोट पहुँचे वैसा नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ, कोई गृहस्थ या भेषधारी साधु अव्यवस्थित आचार वाला हो तो भी 'यह कुशील है', ऐसा नहीं कहना चाहिए। दूसरों के चोट लगे, अप्रीति उत्पन्न हो वैसा व्यक्तिगत आरोप अहिंसक व्यक्ति के लिए उचित नहीं होता।⁴³

12. उपहास नहीं करना—(न तं उवहसे मुणी) प्रत्येक व्यक्ति की बौद्धिक और शारीरिक स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। कोई व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से कमजोर होता है। वह किसी बात को आसानी से नहीं समझ पाता या अन्यथा समझ लेता है तो उसका उपहास

नहीं करना चाहिए।¹⁴ अनेक बार ज्ञानी व्यक्ति भी बोलने में लिंग, वचन या वर्ण सम्बन्धी भूल कर सकता है अर्थात् वाक्य रचना में कोई त्रुटि रह सकती है या जो बात जैसे कहनी चाहिए उसे प्रमादवश अन्यथा कह सकता है तो उसे सुनकर उपहास नहीं करना चाहिए।¹⁵

हंसी में भी दूसरों के दोषों की भी अभिव्यक्ति करना पाप कर्म के बन्धन का हेतु होता है। इसलिए पाप कर्म की स्थापना करने वाले कुप्रावचनिकों की भी मजाक करते हुए ऐसे शब्द नहीं कहने चाहिए जिससे उनके मन में अमर्ष पैदा हो। उदाहरणार्थ 'अरे! आपके व्रत तो बड़े अच्छे हैं।' सोने के लिए मृदु शय्या, प्रातःकाल उठते ही अच्छे-अच्छे पेय, मध्यकाल में भोजन आदि-आदि, इस प्रकार सुविधापूर्वक जीवन यापन करते हुए भी आपको मोक्ष प्राप्ति हो जाती है।¹⁶

13. शालीनता रखना- व्यक्ति की पहचान उसकी बोली से होती है। शिष्ट व्यक्ति दूसरों के लिए तुच्छ और अपमानित करने वाले शब्दों का प्रयोग नहीं करता। विशेषतः सम्माननीय व्यक्तियों के लिए तू-तू जैसा अप्रिय और अनिष्ट वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।¹⁷

14. आत्म प्रशंसा नहीं करना¹⁸—(अत्ताणं न समुक्कसे) आत्म प्रशंसा अभिमान का ही एक पहलु है। इसके द्वारा व्यक्ति अपना उत्कर्ष प्रदर्शित करने का प्रयास करता है किन्तु यह उसकी तुच्छता को ही सिद्ध करती है, क्योंकि ज्ञान, पद, लब्धि आदि प्राप्त होने पर अहंकार करना तुच्छता है। मनुष्य को चाहिए कि वह जितनी उपलब्धियां प्राप्त करे उतना ही विनम्र बने और आत्म प्रशंसा से दूर रहे।

15. पर-निन्दा नहीं करना¹⁹—(न परं वएज्जासि अयं कुसीले) प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप अपने-अपने होते हैं। अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही लोग सुख-दुःख भोगते हैं। इसलिए किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। दूसरों की निन्दा नहीं करने वाला लोक में भी सम्मान की अर्हता प्राप्त करता है।²⁰

दूसरों की निन्दा करने का एक कारण स्वार्थ की सिद्धि न होना होता है। इससे निन्दक का दुगुना नुकसान होता है, क्योंकि जिस व्यक्ति की वह निन्दा कर रहा है उसे पता लगने पर भविष्य में होने वाले लाभ से भी वह वंचित रह जाता है। वह जिस व्यक्ति के सामने दूसरों की निन्दा करता है वह भी निन्दक का विश्वास नहीं करता, क्योंकि उसके मन में यह तर्क हो सकता है कि 'यह दूसरों की निन्दा मेरे सामने करता है तो क्या गारंटी है कि दूसरों के सामने मेरी निन्दा नहीं करेगा।' इस प्रकार निन्दक व्यक्ति सभी के द्वारा उपेक्षित हो जाता है। इसलिए पर निन्दा को मानसिक अशान्ति का प्रमुख माना गया है।²¹

पर निन्दा के सन्दर्भ में भी निष्कारण ही अपने गुरु, आचार्य और उपाध्याय आदि परम उपकारियों की निन्दा करना तो महा निकृष्ट कोटि में माना जाता है⁵²

16. सत्य के प्रति विनम्र रहना⁵³—(नियतणें वट्ई सच्चवाई) सत्य अनंत है, इसलिए इसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति संभव नहीं हो सकती। प्रत्येक सत्य साधक का सत्य भिन्न हो सकता है, इसलिए किसी विषय को भली-भाँति जानते हुए भी सत्य के प्रति विनम्र रहना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि 'मैं ही इस अर्थ का जानकार हूँ, दूसरा नहीं' इस प्रकार गर्व नहीं करना चाहिए।

सत्य की स्वीकृति के दो रूप होते हैं— (1) विनम्र स्वीकृति (2) आग्रहपूर्ण स्वीकृति। विनम्र स्वीकृति का स्वर इस प्रकार होता है : 'मैं इतना ही जानता हूँ। इससे आगे मुझसे अधिक ज्ञानी जानते हैं, अपने ज्ञान की सीमा का अनुभव ही यह विनम्रता है।

17. कलहकारी वचन नहीं बोलना⁵⁴—(न य वुग्गहिंय कंहं कहेज्जा) मानसिक आशान्ति के बीस कारण बतलाए गए हैं, उनमें दो इस प्रकार हैं⁵⁴—

(1) अनुत्पन्न नए कलहों को उत्पन्न करना

(2) शमित और उपशान्त पुराने कलहों की उदीरणा करना

कलह का कारण क्रोध होता है। क्रोध स्वयं को भी आ सकता है और दूसरों को भी। ऐसा भी देखा जाता है कि किसी व्यक्ति विशेष को किसी शब्द विशेष से चिढ़ होती है। उसके सामने वैसे शब्द बोलते ही वह क्रोध से भड़क उठता है और कलह शुरू हो जाता है। इसलिए दूसरों के सामने ऐसे शब्द नहीं बोलने चाहिए जिससे वह कुपित हो जाए तथा स्वयं के क्रोधित होने की स्थिति में कुछ नहीं बोलना ताकि कलह बढ़े नहीं, शान्त हो जाए।

18. विवाद नहीं करना- (ण विरुज्जेज्ज केणइ)⁶⁴ किसी ज्ञातव्य विषय पर चर्चा करना, समझना और समझाना तो अच्छी बात है किन्तु विवाद करना नहीं। विवाद करने में दृष्टिकोण अपने मत की स्थापना का रहता है, ज्ञान वृद्धि का नहीं और विवाद का अन्तिम परिणाम मधुर नहीं होता। इसलिए विवाद से सदैव बच कर रहना चाहिए। इसमें भी निम्न दो व्यक्तियों से तो विशेष रूप से विवाद करना ही नहीं चाहिए—

(1) **तुच्छ व्यक्ति-** तुच्छ व्यक्ति से विवाद करने पर व्यक्ति तुच्छता को प्राप्त होता है। इससे दोनों ओर हानि है, क्योंकि यदि विवाद में तुच्छ से पराजय हो जाती है तो अपमान होता ही है। विजय होने पर भी हानि ही है, क्योंकि तुच्छ व्यक्ति से जीतने के लिए व्यक्ति को अपने स्तर से गिर कर उसके बराबर आना पड़ता है।

- (2) **गुरु**— गुरु से कभी विवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि गुरु से विवाद करना अविनीतता का प्रतीक होता है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि यदि किसी समय गुरु कौए को सफेद भी बताए तो भी शिष्य को उनकी बात का प्रतिवाद नहीं करना चाहिए। एकान्त में उसका कारण पूछना चाहिए।⁶

19. असत्य नहीं बोलना—(मुसं ण बूया)⁶⁵ यथार्थ का प्रतिपादन करना अर्थात् जो जैसा है उसका उसी रूप में प्रतिपादन करना सत्य कहलाता है। धर्म के जितने भेद-प्रभेद सभी सम्प्रदायों के द्वारा व्याख्यायित हुए हैं उनमें सत्य का स्थान प्रमुख है। सभी ने असत्य का निषेध किया है।⁶⁷ भगवान महावीर ने तो सत्य को लोक का सारभूत तत्त्व बताते हुए उसे भगवान की उपमा दी है। सत्य को सर्वाधिक महत्त्व देने का कारण यह है कि इसकी आराधना के बिना शेष सारे धर्म, नियम आदि की आराधना संभव नहीं है।

एक श्रावक ने मृषावाद को छोड़कर सभी अणुव्रत ग्रहण किए। कुछ समय पश्चात् एक-एक कर सभी व्रत तोड़ने लगा। जब उसके मित्र ने कहा कि तुम ग्रहण किए हुए व्रतों को क्यों तोड़ रहे हो? तब वह कहता है 'नहीं तो, मैं व्रतों को कहां तोड़ रहा हूँ?' मित्र बोला—'तुम झूठ बोलते हो।' उसने कहा—'मैंने झूठ बोलने का त्याग कब किया था?' इस प्रकार सत्य के अभाव में उसने सारे व्रत तोड़ डाले। सत्य की वचनीयता सापेक्ष होती है। सत्य वही वक्तव्य है जो अनवद्य, मृदु और संदेह रहित हो। सत्य को सीमा में बांधते हुए व्याख्याकारों ने यहाँ तक कह दिया—सत्य वही है जो दूसरों का उपघात नहीं करता।⁶⁸

20. सरल और स्पष्ट बोलना— भाषा सरल और स्पष्ट होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि सामान्य बुद्धि के व्यक्तियों के सामने ऐसे कठिन और दुरूह शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिसे वे समझ ही न सके। कुछ शब्द द्व्यर्थक होते हैं। इससे श्रोता संशय में पड़ जाता है कि इसका अर्थ यह है या दूसरा। इस प्रकार के संशय पैदा करने वाले शब्द नहीं बोलने चाहिए।⁶⁹ सरल का अर्थ कपट रहित या ऋजु भी होता है। इसमें यथार्थ भावों को ढकने के लिए शब्दों का जाल नहीं बुना जाता।

21. हिंसाकारी वचन नहीं बोलना—(जं छणं तं ण वत्तव्वं)⁶⁶ जैन दर्शन में हिंसा की व्याख्या बड़े विस्तृत रूप से की गई है। तीन कारण (करना, कराना और अनुमोदन करना) तथा तीन योग (मन, वचन और काया) से इसके नौ प्रकार हो जाते हैं। जिस प्रकार किसी की हिंसा करना पाप माना गया है उसी प्रकार वचन से कहना भी उतना ही पाप है। वाचिक हिंसा के तीन रूप इस प्रकार हो सकते हैं—

- (1) **करना-** 'मैं चोर का वध करूँगा' ऐसा कहना।
- (2) **कराना-** 'चोर का वध करो।' इस प्रकार दूसरों को हिंसा का आदेश-उपदेश देना।
- (3) **अनुमोदन करना-** 'चोर का वध करना अच्छा है', 'ऐसा होना ही चाहिए'। इस प्रकार हिंसा का समर्थन करना।

कभी-कभी इस प्रकार की वाचिक हिंसा साक्षात् हिंसा से भी अधिक हानिकर सिद्ध होती है, इसलिए हिंसाकारी वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

मन, वचन और काया- इन तीनों योगों से जीव कर्म पुद्गलों को आकर्षित करता है। इनमें वचन योग का संसार बहुत विशाल है। इनके शुभ या अशुभ होने के आधार पर इसके परिणाम भी शुभ-अशुभ होते हैं⁶¹ अशुभ परिणामों से बचने के दो उपाय हैं- एक मौन (वचन गुप्ति) और दूसरा वाणी का सम्यक् प्रयोग। इनमें दूसरा अधिक उपयोगी है, क्योंकि मौन रहकर व्यवहार में जीना बहुत कठिन है। जो वाणी का सम्यक् प्रयोग नहीं जानता, उसका मौन भी अधिक उपयोगी नहीं होता। इसलिए जैनागमों में भाषा की यतना-विवेक को अधिक महत्त्व दिया है। यही साधक की भाषा समिति है। भाषा समिति से युक्त व्यक्ति के लिए यहां तक कहा गया है—

वयणविभती कुसलो वयोगतं बहुविधं वियाणेतो।

दिवसं पि जंपमाणों सो वि हु वङ्गत्ततं पत्तो ॥⁶²

अर्थात् जो साधक भाषाविज्ञ है, वचन और विभक्ति को जानता है यथा नियमों का ज्ञाता है, वह सारे दिन बोलता हुआ भी वचन गुप्त है।

संदर्भ सूची :-

- | | |
|----------------------|--------------------------|
| 1. उत्तराध्ययन 1/14 | 8. उत्तरा. 1/13 |
| (ब) दसवैकालिक 8/46 | 9. वही 11/2 |
| 2. दसवै. 8/46 | 10. वही |
| 3. वही (टिप्पण) | 11. वही 11/7, 8, 9 |
| 4. दसवै. 8/48 | 12. वही 27/11 |
| 5. उत्तरा. 1/4 | 13. वही 1/25 |
| 6. वही (टिप्पण) | 14. (अ) वही (टिप्पण) |
| 7. उत्तरा. 11/7, 8,9 | (ब) सुखबोधा टीका (प. 10) |

15. दसवै. 8/19, उत्तरा, 1/10
16. (अ) उत्तरा, 31/30 (टिप्पण)
(ब) दसवै. 8/48 (टिप्पण)
17. सूयगडो (1)/14/23
18. उत्तरा. 34/30
19. (अ) उत्तरा. 1/25
(ब) सूयगडो 9 (25)
20. (अ) उत्तरा. 1/25 (टिप्पण)
(ब) उत्तरा. चूर्णी पृ. 38
21. सूयगडो (1)/9/25 (टिप्पण)
22. (अ) वही 27
(ब) दसवै. 7/13
23. दसवै. 8/20
24. (अ) उत्तरा. चूर्णी पृ. 31
(ब) उत्तरा. 1/25 (टिप्पण)
25. वही
26. सूयगडो (1)/9/26 (टिप्पण)
27. उत्तरा. 11 / आमुख
28. दसवै. 9/6
29. उत्तरा. 11/6
30. दसवै. 8/46
31. दसवै. 9 (1)/22
32. दसवै. 9 (3)/10
33. सूयगडो (1)/24/23
34. उत्तरा. 11/6
35. उत्तरा. 11/1 (टिप्पण)
36. (अ) दसवै. 12
(ब) उत्तरा. 22
37. दसवै. 2/7 (टिप्पण)
38. (अ) दसवै. 2/7
(ब) उत्तरा. 22/42
39. सूयगडो (1)/9/24
40. उत्तरा. 1/24
41. दसवै. 9 (3)/9
42. समवाओ 20/1
43. दसवै. 10/18 (टिप्पण 68)
44. सूयगडो (1)/14/11
45. दसवै. 8/49
46. सूयगडो (1) 14/19
47. (अ) सूयगडो (1)/9/27
(ब) दसवै. 7/14
48. सूयगडो (1)/14/21,18
49. दसवै. 10/18
50. दसवै. 9(3)/9
51. समवाओ 20/1
52. उत्तरा. 17/4
53. (अ) सूयगडो (1)/14/22
(ब) दसवै. 9(3)/3
54. समवाओ 20/1
55. दसवै. 10/10
56. अनुयोगद्वार प्र. 3 (सूत्र 19)
57. दसवै. 6/12
58. दसवै. अ. चू. पृ. 11
59. (अ) दसवै. 7/3,4
(ब) दसवै. 8/48
60. दसवै. 7/7/8/9
61. दसवै. 4/6
62. (अ) सूयगडो (1)/9/25 (टिप्पण)
(ब) दसवै. निर्युक्ति गाथा 213
63. समवाओ /5 (टिप्पण 6)
64. सूयगडो 11/12
65. वही 10/22
66. वही 9/26
- सम्पर्क -
जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)

भारतीय संस्कृति में श्रमण संस्कृति का योगदान

योगेश कुमार जैन

प्रायः अंग्रेजी के “कल्चर” शब्द के पर्याय के रूप में “संस्कृति” शब्द को स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार “एग्रीकल्चर” अपनी भावात्मक संसार-अवस्था को प्राप्त कर कल्चर बन गया अर्थात् जीवन की मूलभूत उपयोगिता उदरपूर्ती परिष्कृत होकर, निखरकर कल्चर अर्थात् हमारी संस्कृति बनी। संस्कृति शब्द “सम्” उपसर्ग पूर्वक ‘कृ’- करणे धातु में सुट् का आगम करके क्तिन् प्रत्यय लगाने पर संस्कृति शब्द बनता है। सम् और कृति इन दो शब्दों का अर्थ ‘सम’ अर्थात् सम्यक् और पूर्ण रीति से, कृति अर्थात् किये गये कार्य। जिस प्रकार अच्छी तरह से जोता गया खेत निश्चित रूप से अच्छी फसल देता है, उसी प्रकार विभिन्न साधनाओं से परिपक्व हुआ व्यक्तिगत या जातीय जीवन संस्कृत जीवन कहा जा सकता है। यद्यपि कुछ शब्द-गत साम्य होने पर भी भारतीय और पाश्चात्य सांस्कृतिक चेतना में जो मौलिक अन्तर है उसे भुलाया नहीं जा सकता। पश्चिम की सांस्कृतिक चेतना बहिर्मुखी, यथार्थमूलक और अन्ततः भोगात्मक रही है, जबकि हमारी जीवन दृष्टि सदा अन्तर्मुखी-आत्मपरक, आदर्शमूलक और त्यागप्रधान रही है। ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी में ‘संस्कृति-कल्चर’ शब्द की व्याख्या निम्न शब्दों में की गई है- “मस्तिष्क, रुचि और आचार-व्यवहार की शिक्षा और शुद्धि, इस प्रकार शिक्षित और शुद्ध होने की अवस्था, सभ्यता का बौद्धिक पक्ष, विश्व की सर्वोत्कृष्ट ज्ञात और कथित वस्तुओं से स्वयं को परिचित कराना है।”

‘आपटे’ के संस्कृत शब्द कोष में ‘संस्कृ’ धातु के अनेक अर्थ दिये हैं- सजाना, संवारना, पवित्र करना, सुशिक्षित करना आदि।

जहां तक संस्कृति के मूल मन्तव्य और परिभाषा की बात है, विभिन्न विद्वानों ने इस दिशा में अपने मौलिक और प्रामाणिक विचार प्रकट किये हैं। यथा- “संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने

आप को परिचित करना संस्कृति है।” अन्य विद्वान् भी अपनी परिभाषा को इस तरह वर्णित करते हैं- “संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।” यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह “सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।” इस अर्थ में संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। संस्कृति शब्द का अर्थ संस्कार से है जिसका अर्थ है- संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार-करना। संस्कृत शब्द का भी यही अर्थ है। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी। जाति के संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। “भाव वाचक होने के कारण संस्कृति एक समूह वाचक शब्द है।”³

श्री करपात्री जी के अनुसार “वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थों के अनुसार लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी व्यापार ही मुख्य संस्कृति है और वही हिन्दू संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति है। संस्कृति अन्तःकरण है, सभ्यता शरीर है। संस्कृति सभ्यता द्वारा स्वयं को व्यक्त करती है। संस्कृति वह सांचा है जिसमें समाज के विचार ढलते हैं। वह बिन्दु है जहां से जीवन की समस्याएँ देखी जाती हैं। डॉ. देवराज लिखते हैं कि हर संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है। सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। चर्चित सभी परिभाषाओं का सार यही है कि हमारी जीवन साधना का सार रस ही संस्कृति है, संस्कृति, किसी भी देश या जाति की प्रबुद्ध आन्तरिक चेतना की वह स्वस्थ और मौलिक विशेषता है जिसके आधार पर विश्व के अन्य देशों में उसका महत्त्वाङ्कन होता है।”

सभ्यता का उदयास्त सम्भव है, किन्तु संस्कृति- वह तो अटूट धारा है, अखण्ड-प्रवाह, उसका विकास सम्भव है, उदयास्त असम्भव। भारतीय संस्कृति की स्थिति भी यही है। वह एक अतल महार्णव है, जिसमें नाना संस्कृति धाराएँ यहां से वहां किस्त दर किस्त आयी है और पूरी तरह घुलमिल गयी है। वस्तुतः वह एक ऐसा घोल है, जिसकी अस्मिता अब सम्पूर्णतः स्थापित हो चुकी है। आज कोई भी संस्कृति ऐसी नहीं है जो अन्य देशों की संस्कृतियों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित न हो। सजीव संस्कृति सदा उदार और ग्रहणशील होती है। संस्कृति भावनामूलक है तथा सभ्यता बुद्धिमूलक है। बुद्धिविकास और विश्लेषणशील है, अतः उसमें अधिकाधिक परिवर्तन की सम्भावना रहती है। भावना में बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन होता है। संस्कृति और उसकी मूल चेतना में परिवर्तन आने में शताब्दियाँ लग जाती हैं।

संस्कृति की सबसे पुरानी और व्यापक परिभाषा टाइलर की है जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण के प्रारंभ में दी गई थी। टाइलर के अनुसार “संस्कृति अथवा

सभ्यता” वह जटिल तत्त्व है जिसमें ज्ञान, नीति, कानून, रीतिरिवाजों तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।^१ लिंटन ने संस्कृति को “सामाजिक विरासत” कहा है।^२ “मौलिना उसकी के अनुसार संस्कृति सामाजिक विरासत है जिसमें परम्परा से पाया हुआ कला कौशल, वस्तु सामग्री, यांत्रिक क्रियाएँ, विचार आदतों और मूल्य समावेशित हैं।^३

भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि विशेषताएँ

समन्वयशीलता - भारत वर्ष संस्कृतियों का संगम देश है। इसकी संस्कृति में अनेक धर्म, सम्प्रदायों और जातियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः किसी एक धर्म या जाति के नाम से इसे सम्बोधित नहीं किया जा सकता। ऐसा करना स्वयं को असंस्कृत घोषित करना मात्र होगा। ‘संस्कृति के लिए व्यक्ति के अभिमान, राष्ट्र के अभिमान को तिजांजलि देनी पड़ती है। मानव जाति जिस दिन संस्कृति के महत्त्व को समझेगी, उसी दिन वह अपनी आत्मा के साथ साक्षात्कार करने के योग्य हो सकेगी। संस्कृति न तो भौगोलिक सीमा को ही महत्त्व देती है और न राजनीति को ही, यह तो अखिल मानवता की पूंजी है। भारतीय संस्कृति को प्रायः भारतीय या हिन्दु संस्कृति कह दिया जाता है। प्रायः लोगों की यह धारणा रही है कि भारतीय संस्कृति मूलतः आर्यों की संस्कृति रही है और आर्य यहां के मूल निवासी न होकर विदेश से आये थे तथा उनसे पहले भारत में कम से कम दो संस्कृतियाँ विद्यमान थी आस्ट्रिक और द्रविड। बाद में हूण, यूनानी, यूरोपियन और अंग्रेज भी बाहर से आए तथा इनका और इनकी संस्कृति का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ा। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति की प्रथम महत्त्वपूर्ण विशेषता समन्वयशीलता है।’

अनासक्तिभाव - ऐहिक जीवन और सांसारिक सुखों के प्रति गहरी अनासक्ति का भाव भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता है। निर्धन हो या धनवान, शासक हो या शासित, बालक हो या वृद्ध सभी का झुकाव परलोक की ओर रहा है। वैराग्य, तितिक्षा और असंग्रह संसार भर में इतना कहीं भी प्रश्रय न पा सके। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भारत में लौकिक उन्नति हुई ही नहीं परन्तु इस ओर तीव्र भाव नहीं रहा। फलतः आज भी जगत के अनेक देशों की तुलना में हम वैज्ञानिक, आर्थिक और औद्योगिक उन्नति में पिछड़े हुए हैं। इसका कारण यह है कि हमने भौतिक उन्नति को जीवन के विकास में, मुक्तिमार्ग में, बाधक ही माना। अतः कहा जा सकता है कि अनासक्ति भाव भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है।

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त - समस्त सुख और दुःख का उत्तरदायी कर्म ही है। कोई अन्य हमें कष्ट नहीं दे सकता तथा मनुष्य अपने पूर्व कृत कर्मों का ही फल

भोगता है। इस विश्वास से उसमें अपूर्व शक्ति आती है। वह भले ही विपत्तियों से कायल हो जाये, फिर भी दुःख उसको दूसरों की भांति विचलित नहीं करते। मृत्यु भी उनके लिए उतनी महत्त्व की चीज नहीं है, कारण उनका विश्वास पुनर्जन्म में है।

आस्तिकता और आदर्श - ईश्वर की पराशक्ति उसकी सर्वोपरि महत्ता उसका सर्वज्ञत्व और उसका सर्व-व्यापकत्व आदि बातें भारतीय आत्मा और मस्तिष्क में चिरकाल से बद्धमूल है। स्वयं को ईश्वर के सम्मुख अतितुच्छ समझना भी हमारी आत्मतुष्टि का बड़ा कारण है। भक्ति, सेवा, त्याग, तप, पितृभक्ति आदि आदर्शों के लिए भारतीय जनता युग-युग से संघर्ष करती आयी है। फलतः हमारा व्यवहार पक्ष अविकसित रह गया जो आज प्रत्यक्ष है। भीष्म का जीवनभर का ब्रह्मचर्य और राम का सुदीर्घ वनवास पितृभक्ति आदर्श के ही ज्वलन्त उदाहरण है। गांधी और नेहरू जो कि आधुनिक चेतना से सम्पन्न थे, ने भी अनेक बार अपने आदर्शजीवी होने का परिचय दिया है।

श्रमण संस्कृति - भारतीय संस्कृति मूलः अध्यात्म प्रधान और समभाव धारिणी है। इस संस्कृति में सामान्यतः देशी-विदेशी अनेक प्रभाव पड़े, अनेक क्रान्तियाँ आईं, पर इसकी आन्तरिक चेतना को सर्वाधिक प्रौढ़ता, वैज्ञानिकता और मानवीयता से श्रमण धारा ने ही झकझोरा, संवारा और पुनः निर्मल किया। “भारतीय संस्कृति समभाव प्रधान है। इसमें श्रम, शम और सम ये तीन मूल तत्त्व हैं। दूसरे शब्दों में साधना, शांति और समत्व की भावना ही इस देश की संस्कृति के मूल में है। उक्त तीनों बातें ज्ञान की निर्मल अवस्था में ही झलक सकती है।”¹⁸

वैदिक और श्रमण संस्कृतियाँ ही देश का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हैं। इन दोनों में ही भारतीय संस्कृति की विराट् प्रतिमा देखी जा सकती है। बौद्धों और जैनों की यह महती देन-श्रमण संस्कृति, भारतीय संस्कृति की अक्षय और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निधि है। जैन-धर्म मूलतः ज्ञान प्रधान है पर अध्यात्म तत्त्व भी उसमें समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। आज आचार, मूर्ति पूजा, तीर्थ यात्रा और भक्ति जो कुछ भी इसमें साधना-मार्ग दृष्टिगोचर होता है वह साधन मार्ग ही है, साध्य नहीं। श्रमण शब्द की आत्मा त्रितात्विक है। वे तत्त्व हैं- श्रम, शम और सम। ये तीनों तत्त्व भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दिशाओं में चरम उपलब्धि के प्रदाता हैं।

श्रम - प्रत्येक प्राणी और विशेषतः मानव को ईमानदारी से यथाशक्ति अनवरत श्रम-साधना का आदी होना चाहिए। श्रम से ही जीवन की महानता का उद्भव होता है, जीवन निर्मल होता है, आत्म विश्वास का उदय होता है, अकर्मण्यता और आलस्य का क्षय होता है। श्रम सच्चे सुख का प्रथम और अनिवार्य सोपान है। श्रम के अभाव में किया गया चिन्तन अनिवार्य रूप से वर्गवाद, साम्राज्यवाद, अनाचार और घृणित भोग परम्परा

का जनक होता है। अतः श्रमण महावीर और बुद्ध ने श्रम की अनिवार्यता का प्रत्येक मानव के लिए प्रतिपादन किया। श्रम के साथ विवेक दृष्टि को भी महत्त्व दिया गया है। अन्तःकरण और महान् उद्देश्य से किया गया श्रम ही प्रशंसनीय होता है।

श्रम - श्रम की उपलब्धि शमात्मक होनी चाहिए। सच्चा व्यक्तिगत और सार्वजनिक श्रम अवश्य ही शान्ति की स्थापना करता है। तपस्वी को तप से आत्मा में निर्मलता का अनुभव होता है, वही उसकी उपलब्धि है। श्रमण महावीर और बुद्ध का आशय भी यही था कि बिना सच्ची साधना के मन को सच्ची शान्ति नहीं मिलती है।

सम - श्रम के फल स्वरूप मानव को शांति मिलती है और शान्त अवस्था में ही वह उत्कृष्ट ढंग से अपने लिए और सारी मानवता के लिए सोच सकता है। उक्त दो अवस्थाएं विश्व मैत्री और विश्व बन्धुत्व की स्वस्थ भूमिका प्रस्तुत करती हैं। मानव मन में इतनी निर्मलता और सरलता आ जाती है कि वह प्रत्येक मानव और जीवमात्र में आत्मवत् अनुभूति करता है।

भारतीय संस्कृति में समन्वय, सर्वभूत मैत्री, अनासक्ति, परलोकगमन, अध्यात्म आदि का अद्भुत योग है। परन्तु ये सभी तत्त्व किन-किन स्रोतों से आकर इसमें एकाकार हुये हैं, यह जानना भी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना हमारी दृष्टि वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती है। अहिंसक आचरण की तलस्पर्शी चेतना तथा अपरिग्रह रूप जीवन पद्धति निश्चित रूप से जैन और बौद्ध स्रोतों से आयी है। चिन्तन के क्षेत्र में अनेकान्त दृष्टि द्वारा ज्ञान का चिरकाल से अवरुद्ध मार्ग जैनाचार्यों ने ही खोला।

श्रमण परम्परा का योगदान

अहिंसा - भारतीय समाज को एवं विश्व के समस्त धर्मावलम्बियों को श्रमणों ने ही अहिंसा की राह दिखाई। अहिंसक आचरण जैन धर्म का प्राण है। “अहिंसा परमोधर्मः” अर्थात् अहिंसा को परम धर्म कहा गया है। यद्यपि सत्यादि उसके विस्तार हैं तथापि “अवसेसा तस्सरक्खट्टा” शेष व्रत अहिंसा की रक्षा हेतु हैं। समस्त जैनाचरण अहिंसामूलक है और चिन्तन अर्थात् विचारधारा अनेकान्तात्मक। समस्त धर्मों की शिक्षाएँ वर्जनात्मक ही होती हैं। अहिंसा भी ऐसा ही शब्द है, किन्तु जैन अहिंसा निषेध के द्वारा अकर्मण्यता को प्रोत्साहित नहीं करती, उसका क्रियात्मकरूप भी है। यथा-

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु कृपापरत्वम्।

माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ सदात्मा विदधातु देव ॥

अर्थात् प्राणी मात्र में मैत्री, गुणीजनों में प्रमोद, दुःखी जीवों के प्रति दयाभाव और विपरीत आचरण या विचार वालों के प्रति माध्यस्थ भाव की ही एक अहिंसक हृदय भगवान से प्रार्थना करता है। अहिंसा की परिभाषा निम्न शब्दों में प्राप्त होती है:-

**अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥¹⁰**

अर्थात् आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा और निश्चय से उनकी उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है। यही जिनागम का सार है। हिंसा को दो भागों में बांटा जाता है- द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा। उद्योगी हिंसा, आरम्भी हिंसा, संकल्पी हिंसा और विरोधी हिंसा ये चार भेद भी हिंसा के ही हैं। अहिंसा का वास्तविक परिणाम आत्मशुद्धि है तथा जिसकी आत्मा स्वयं में शुद्ध व निर्मल नहीं है, वह दूसरों को कैसे शुद्ध कर सकता है। इस प्रकार अहिंसा का स्वरूप बताकर श्रमणाचार्यों ने समस्त जीवों के कल्याण का उपदेश दिया है।

अपरिग्रह - असंग्रह - अहिंसक आचरण मनुष्य में विशाल लोक चेतना को जागृत करता है। इस आचरण के फल स्वरूप असंग्रह की भावना का उदय होता है। व्यक्तिगत सुख का अधिकतम त्याग मानव में जागृत होता है। यह त्याग बाह्य असंग्रह है और आन्तरिक, सांसारिक इच्छाओं का त्याग आन्तरिक असंग्रह है। महावीर के युग में धर्म के नाम पर पण्डे पुजारी अधिकतर संग्रह वृत्ति के आदी हो चुके थे। महावीर ने स्वयं अहिंसक और अपरिग्रही बनकर राज्य सुख त्यागकर जनता के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया। “यह संसार से घृणा करके नहीं किया अपितु जीवन की पूर्णता, वास्तविकता और विश्व के ऐक्य को खोजने के लिए यह मार्ग अपनाया।”¹¹

अनेकान्त - भारतीय संस्कृति को श्रमण संस्कृति की तीसरी देन विचार के क्षेत्र से सम्बद्ध है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि जैन अम्नाय की समस्त आचार प्रक्रिया अहिंसा मूलक है और विचार पद्धति अनेकान्तात्मक। अतः अहिंसा और अपरिग्रह जैनाचार की आधार भूमि है और अनेकान्त तथा स्याद्वाद विचार पथ के प्रकाश स्तम्भ। जैन दर्शन में दो शब्द प्रचलित हैं- 1. अनेकान्त, 2. स्याद्वाद। अनेकान्त द्वारा वस्तु की अनेक रूपात्मक और गुणात्मक सत्ता का बोध होता है, वस्तु की स्थिति समझ में आती है, अतः यह वस्तु या विषय बोध की व्यवस्था है। स्याद्वाद द्वारा वस्तु की अनेकविध सत्ता का कथन किया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है, एवं प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य का निर्माता है अतः स्वतन्त्र है, इसलिए उसकी स्वतंत्रता का अपहरण नहीं होना चाहिए। प्रत्येक जीव साधना के द्वारा सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकता है। यही समझ एवं दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है। अनेकान्त को समझ कर ही हम आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया एवं तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं। जिनके विचारों में अनेकान्त और वाणी में स्याद्वाद होता है, उन्हें जगत में कोई दुःखी नहीं कर सकता तथा उनका कल्याण निश्चित होता है।

छह द्रव्य - जैन दर्शनानुसार, समस्त चराचर जगत का स्वरूप छह द्रव्यों के द्वारा समझ सकते हैं। ये छहों द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं। इनमें एक मात्र पुद्गल रूपी द्रव्य है।¹² शेष पाँच 'अरूपी' द्रव्य है। अतः समस्त जगत जीव-पुद्गल या रूपी और अरूपी इन दो भागों में बंटा हुआ है। इन्हीं छहों द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं अर्थात् छह द्रव्यों से पृथक संसार कुछ भी नहीं है। जैन दर्शनानुसार छहों द्रव्य स्वतंत्र हैं तथा अपने-अपने अस्तित्व को कायम रखते हैं, अतः संयोग ही संसार है, जगत को बनाने वाला अन्य कोई नहीं है, इससे संसार की अनादि-अनन्तता सिद्ध होती है।

सात तत्त्व - "जीवाजीवाश्रबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्"¹³ अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष- ये सात तत्त्व हैं। जीव जब मोहवशात् अजीव के प्रति आसक्ति भाव करता है तो मोह से कर्मों का आगमन होता है, उसे आश्रव कहते हैं। आश्रव से बंध तथा ज्ञान के बल से आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होने से नवीन कर्मों का आना रुक जाना संवर, पूर्वबद्ध कर्मों का आत्मा से पृथक् होना निर्जरा और आत्मा में से सम्पूर्ण कर्मों का अलग होना ही मोक्ष है। यही जीवन मुक्ति की प्रक्रिया है।

कर्मसिद्धान्त - समस्त भारतीय दर्शन परम्परा को जैन परम्परा और संस्कृति का सबसे बड़ा योगदान कर्म व्यवस्था है। जैन धर्मानुसार एवं वैदिक परम्परा में कर्मों को ही सुख-दुःख का कारण कहा गया है परन्तु जैन परम्परा में कर्मों को पुद्गल ही कहा गया है। ये आठों कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र घाति-अघाति के भेद से दो प्रकार के हैं। प्रारंभ के चार जीवों के अनुजीवों गुणों का सर्वघात करने वाले होने से घाति तथा शेष चार आंशिक या किंचित घात करने वाले होने से अघाति कहलाते हैं। इन्हीं कर्मों का संयोग संसार और वियोग ही मोक्ष है।¹⁷

सांस्कृतिक योगदान - भारतीय परम्परा में पर्व एवं त्योहारों का विशेष महत्त्व है। पर्वों के द्वारा ही समाज अपनी संस्कृति को पुनर्जीवित करता है तथा अपनी संस्कृति के अस्तित्व को बनाए रखता है। पर्वों अथवा त्योहारों की चर्चा सामने आते ही प्रत्येक जन सामान्य के मन में हर्षोल्लास छा जाता है तथा स्वादलोलुप तो षट्स मिश्रित भोजन की कामना कर त्योहारों को मौज-मस्ती से मनाने की कल्पना में लग जाते हैं, परन्तु इन सबसे विपरीत जैन पर्व संयम की साधना, तप एवं त्याग की आराधना के सूचक होते हैं। कारण सभी जैन पर्व त्याग-तपस्या एवं मोक्ष प्राप्ति से संबंधित हैं, अतः प्रत्येक जैन श्रावक सभी पर्वों को यानि महावीर जयन्ती, अक्षय तृतीया श्रुतपंचमी, रक्षा बन्धन, महापर्व पर्युषण पर्व और दीपावली को संयम पूर्वक आत्मशांति की प्राप्ति हेतु मनाता है।

कला विषयक योगदान - भारत के सांस्कृतिक इतिहास को भली-भांति आलोकित करने वाली आधार भूत सामग्री में साहित्य के अतिरिक्त पुरातत्त्व का अपना विशिष्ट

स्थान है। इतिहास-निर्माण की दृष्टि से पुरातत्त्व विषयक सामग्री का सर्वाधिक महत्त्व है। यह सामग्री अपने आप में एक प्रामाणिक इतिहास है। इसके द्वारा अनेक सन्देहों, विवादों तथा भ्रमों का निराकरण होकर इतिहासकारों को निर्विवाद दृष्टि प्राप्त होती है। इतिहासकार के समक्ष प्रतिपाद्य विषय और उससे सम्बद्ध विभिन्न घटनाओं की सत्यता निरूपित करने के लिए प्रमाण रूप में जो तथ्य वर्तमान रहते हैं उन्हीं को पुरातत्त्व के नाम से कहा गया है।

श्रमण परम्परा के अन्तर्गत श्रमणानुयायियों ने तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को पुनर्जीवित रखने के लिए अभिलेख, शिलालेख, स्तम्भलेख, मूर्तिलेख, स्तूपलेख, गुफालेखादि लेखों का निर्माण करवाया, जिससे तात्कालीन परिस्थितियों का स्पष्ट ज्ञान अद्यापि वर्तमान बना हुआ है। इस प्रकार श्रमण परम्परा का सांस्कृतिक कलात्मक दृष्टि से योगदान अकथनीय है।

सामाजिक योगदान - श्रमण परम्परा ने भारतीय संस्कृति के साथ-साथ समाज की बुनियाद को भी सुरक्षित रखा, उसे अनेकानेक मतवाद, पंथवाद, जातिवाद और ऊंच-नीच से परे मानव मात्र कहा तथा सभी आत्माओं को समानता का उपदेश दिया। श्रमण परम्परा में जातिवाद भेद-भावों को अद्यतन प्रश्रय नहीं मिल सका, कारण श्रमण परम्परा ने हमेशा 'मनुष्य जन्म से नहीं, कर्म से महान् बनता है' इस तथ्य को स्वीकारा तथा सभी आत्माएँ समान हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। इस प्रकार का उपदेश दिया, जिससे ऊंच-नीच का व्यवहार लुप्त प्रायः रहा। तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभ देव) से लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकर जाति से जैन नहीं थे, अधिकतर क्षत्रिय परन्तु जिनेन्द्र देव के उपासक एवं मार्गानुयायी होने के कारण उन्होंने स्वयं जितेन्द्रियपना प्राप्त किया तथा भगवान बने।

श्रमण परम्परा ने प्रारंभ से ही वैदिक परम्परा में विद्यमान कर्मकाण्डों, अंधविश्वासों का विरोध किया। यज्ञ एवं यज्ञ से होने वाली हिंसा के विपरीत अहिंसा का प्रचार किया तथा श्रावकों को अष्टमूलगुण एवं छह आवश्यक पालन करने का उपदेश दिया जिससे समाज में विद्यमान कुरीतियों को मानने वाले वैदिकों को सोचने पर मजबूर होना पड़ा और इसी कारण वैदिकों ने श्रमणों का नास्तिक कहकर विरोध किया।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह तथा मांस, मद्य (शराब) और मधु (शहद), इन आठों के त्याग रूप अष्टमूल गुण पालन करने से समाज में अहिंसा एवं सदाचार का वातावरण बना और समानता का पाठ सुन सभी जीव एकता के सूत्र में बंधें, जिससे सामाजिक एकता परिपक्व हुई। साथ ही समाज में नैतिकता का विकास भी हुआ। देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान- इन छह कर्मों के पालन से

प्रत्येक जीव में संयम एवं सदाचार सहज ही उत्पन्न हुआ तथा आत्मसंयम एवं भेदभाव से रहित व्यक्ति में अच्छे संस्कार का होना सहज ही है और यही नैतिकता है। इस प्रकार श्रमण परम्परा में आत्महितकारी उपदेश का प्रादुर्भाव होता रहा जिससे समानता एवं स्वतंत्रता के साथ सामाजिक एकता की वृद्धि होती रही है।

साहित्यिक योगदान - किसी भी देश अथवा संस्कृति के विकास में साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, जिसमें समाज की सभी छोटी-बड़ी खूबियों एवं कमियां परिलक्षित होती हैं। साहित्य से समाज में व्याप्त सामाजिकता, रीतिरिवाज, संस्कृति एवं कला का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। हमारी प्राचीन सभ्यता का ज्ञान हमें साहित्य के द्वारा ही प्राप्त होता है। पुराकाल में शिलालेख, स्तम्भ लेख, स्तूप एवं गुफालेखादि भी साहित्य के विकल्प के रूप में ही निर्मित किये गये, इनके द्वारा हमें तात्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान सहज ही हो जाता है। श्रमण परम्परा में जैन एवं बौद्ध दोनों ने विपुल मात्रा में साहित्य सृजन किया, जिस कारण अद्यापि साहित्य का लाभ समाज को प्राप्त हो रहा है। जैनाचार्यों में सर्वप्रथम गणधर देव को भगवान की दिव्यध्वनि के मंथन एवं सृजन का श्रेय प्राप्त होता है। प्राप्त जैन आगम के सृजन में धरसेनाचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वाति आदि से लेकर अद्यापि जैन श्रमण अपनी लेखनी द्वारा भारतीय संस्कृति को परिष्कृत कर रहे हैं। पुराणों में वर्णित द्वीप, समुद्र, पर्वत, राज्य एवं समाज का वर्णन, तात्कालीन परिस्थिति का ज्ञान हमें साहित्य द्वारा ही होता है। श्रमण परम्परा में आगमिक, आध्यात्मिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं आचार प्रमुख सभी प्रकार के साहित्य का सृजन हुआ। इस प्रकार प्राणी मात्र के कल्याण की बात वर्णित कर एवं भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित कर श्रमणों ने अमूल्य योगदान दिया है।

भाषा विषयक योगदान - वैदिक काल में वेद एवं पुराणों की भाषा प्राकृत एवं संस्कृत थी तथा बौद्धों की भाषा भी संस्कृत के साथ मुख्य रूप से पाली होने के कारण उनके द्वारा प्रदत्त उपदेश जन-सामान्य में प्रचलित नहीं हो सके। यद्यपि जैन श्रमणों की भाषा मूलतः प्राकृत थी तथापि संस्कृत के साथ-साथ अन्य लोक भाषा यथा मागधी, अर्धमागधी, सौरसेनी आदि जन सामान्य की भाषा में अर्थात् लोकभाषा में उपदेश देने के कारण श्रमणों द्वारा प्रदत्त उपदेश जन-जन तक पहुंचा जिसका सीधा असर उनके आत्मपरिवर्तन से परिलक्षित होता है। भाषा माध्यम को अधिक महत्त्व न देने के कारण अर्थात् सम्प्रेषण की अपेक्षा सम्प्रेषित को अधिक महत्त्व देने के कारण श्रमणोपदेश जन-जन तक पहुंचा जो लोक कल्याणकारी था।

उपसंहार - जैन-धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है- चिन्तन में औदार्य। जैन

मनीषियों ने अपने समकालीन विचारकों को बिना किसी टकराव के समझने का सफल प्रयत्न किया। दुराग्रह को तो उन्होंने जैसे अपने शब्दकोश से ही हटा दिया। अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे सृजन धर्मी शब्दों को समझने का प्रयत्न जब हम करते हैं तब यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। अनेकान्त दृष्टि से वस्तु बहुआयामी है और स्याद्वाद के अनुसार उसका सम्पूर्ण कथन एक ही समय में संभव नहीं है। इस प्रकार श्रमण परम्परा के विविध आयामों का वर्णन करके भारतीय संस्कृति की हर विधा में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. The Training and refinement of mind tastes and manners the cendition and bing thus trained and refined, the intellectual siele of cuttivation, the aequclinting ourselves with the best that has been kewn and ride in the world.
2. I. To a dorm, grace, decorate, II. To refine, Polish, III. To consecrate by repeating mantras, IV. To Pulify, V. To cultivate, educate, train, VI. Makeready, VII. To Cook food, VIII. To collect etc.
3. डॉ. गुलाबराय - भारतीय संस्कृति की रूपरेखा पृ. 01
4. कल्याण - हिन्दु संस्कृति अंक।
5. दे. ई. टाईलर, प्रिमिटिव कल्चर, भाग 01
6. दे. ए. एल क्रेबर, एन्ध्रापालांगी।
7. एन्साइक्लोपीडिया आफ द सोशल सायन्सेज।
8. डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन - कविवर बनारसीदास : जीवनी और कृतित्त्व।
9. अहिंसा तत्त्व दर्शन : मुनि श्री नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ)
10. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय : आचार्य अमृतचन्द 07
11. शान्तराम लाभचंद देव :
12. रूपिणः पुद्गलाः। तत्त्वार्थ सूत्र 5/4 आचार्य उमास्वामी।
13. वही, आचार्य उमास्वामी, 1/04

शोधार्थी -

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

“गाँधी एवं मार्क्स : एक विश्लेषण”

ओम कंवर राठौड़

हर चिन्तक या विचारक अपने युग की उपज होता है। प्रत्येक युग जो इतिहास के परिवेश में बंधा होता है, अपनी कुछ समस्याएँ रखता है। उस युग और समाज के लोग इन समस्याओं के साथ जूझते हैं। कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं जिनका निदान अपने युग में ही हो जाता है लेकिन कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं जो अपने युग में आंशिक रूप से हल होने के बाद समस्याओं की एक नयी फसल ही पैदा कर देती है। हर युग का इतिहास अपनी समस्याओं के साथ इस तरह करवटें लेता रहता है जो इन समस्याओं, चुनौतियों और त्रासदी का विश्लेषण कर सके, वही चिन्तक है। इस तरह युग दर युग समस्याओं का सिलसिला चलता रहता है और विचारकों की वीथिका सजती रहती है। इन विचारकों में कुछ विचारक ऐसे होते हैं। जिनकी प्रासंगिकता अपने युग की सीमित अवधि के लिए होती है लेकिन कुछ विचारकों की प्रासंगिकता कई युगों तक बनी रहती है। ऐसे विचारक सनातन विचारक बन जाते हैं।

संसार के जीवन-दर्शन को प्रभावित करने वाले महान् पुरुषों में गाँधी एवं मार्क्स दोनों का बहुत ही ऊँचा स्थान है। दोनों ने ही मनुष्य के सामाजिक जीवन को गहराई तक प्रभावित किया है। दोनों ने ही मनुष्य की जीवन की विषमता, गरीबी और शोषण से मुक्त कराने का प्रयत्न किया। दोनों ही सत्यनिष्ठा के धनी थे। गाँधीजी ने जीवन भर व्यावहारिक रूप में सत्य के आदर्श को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने शोषण और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करते-करते जीवन दर्शन को निखारा है। गाँधीजी ने यथा सम्भव अपने को वाद-विवादों एवं झगड़ों से दूर रखा और युग-युग से अनुभूत सत्यों को वर्तमान के संदर्भ में रखकर उनके व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया। यह

आश्चर्य की बात है कि उन्होंने युग-युग से परिचित और अनुभूत सत्य को उस प्रकार सामने रखा कि करोड़ों दीन-हीन, शोषित, अपमानित जनता अद्भुत शक्ति के साथ जाग उठी और संसार के सबसे शक्ति² साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठाकर खड़ी हो गई।

महात्मा गाँधी एक ऐसे संत थे, जो विश्व सम्बन्धी मामलों में सक्रिय थे। वे एक ऐसे धर्मपरायण व्यक्ति थे, जिन्होंने सभी धर्मों का समान रूप से सम्मान करना सिखलाया। उनके पास कोई सम्पत्ति नहीं थी। उनकी संपत्ति थी तो वह प्यार जो उन्होंने जनता को दिया था और जो उन्होंने उससे पाया था। एक साम्राज्य के विरुद्ध अपनी लड़ाई के दौरान भी वे दीन-हीन लोगों की चिंताओं और दुःख-तकलीफों में साझेदारी करने का समय निकाल लेते थे।³

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनके बहुमुखी योगदान के संदर्भ में विभिन्न टीकाकारों ने उनकी विविध प्रकार से सहारना की है। उन्होंने उन्हें उदारवादी, राजनैतिक, दार्शनिक, अहिंसक विरोध की राजनीति के प्रणेता, अहिंसक सामाजिक एकीकरण की राजनीतिक के दार्शनिक, परमोत्कृष्ट, राजनैतिक आंदोलनकर्ता, जीवन कला-नाटककार, संतो में राजनीतिज्ञ तथा राजनीतिज्ञों में संत, राजनैतिक, बनिया, महान् समाज-सुधारक, हिन्दू-मुस्लिम तथ ब्राह्मण-शूद्र एकता के प्रतीक, महिला-उद्धार के आदर्शवादी-कर्मयोगी, अपने समय के महानतम पत्रकार तथा राममोहनराय जैसे अपने यशस्वी पूर्वजों के स्तर के पूर्व व पश्चिम तथा परम्परा व आधुनिकता के सामंजस्यकर्मा जैसी उपाधियों से उनके अभूतपूर्व योगदान को सराहा है।⁴

गाँधी ने कहा था कि जीवन एक प्रेरणा है। इसका लक्ष्य पूर्णता के लिए प्रयासशील रहना है, जो आत्मोपलब्धि से ही सम्भव है।⁵ गाँधी जी के सम्बन्ध में रोम्याँ रोलॉ का कथन है- गाँधी जी के क्रियाकलाप को समझने के लिए यह हृदयंगम कर लेना चाहिए कि उनका सिद्धान्त एक वृहत् भवन के सदृश है जिसमें दो भिन्न-भिन्न मंजिलें हैं।⁶ नीचे ठोस आधार है धर्म की मूल भित्ति। यह राजनीतिक एवं सामाजिक आन्दोलन पर गाँधी के अनुसार सदा जागरूक एवं चौकन्नी जनता ही शोषण का विरोध कर सकती है।⁷ गाँधी जी ने पूंजीपति वर्ग और करोड़ों भूखों के बीच की चौड़ी खाई को खत्म करने के उद्देश्य से "निक्षिप्त-सम्पत्ति का निरूपण किया जिसके अन्तर्गत यदि किसी आदमी के पास जितना उसे चाहिए उससे ज्यादा धन या सम्पत्ति हो, तो उसे अपनी अतिरिक्त धन-सम्पत्ति का संरक्षक बना दिया जाए और इस सम्पत्ति के उपभोक्ता का अधिकार उन सभी को है जिसे उसकी आवश्यकता हो। यदि कोई ट्रस्टी ट्रस्ट के कारोबार में गफलत करे तो उसके साथ असहयोग आन्दोलन किया जाए। इसके लिए उन्होंने "हृदय

परिवर्तन” की प्रक्रिया पर जोर दिया। जिसमें पूंजीपतियों में “दान-वृत्ति”, “त्याग वृत्ति” तथा निरोध वृत्ति का संचार हो। इस प्रकार गाँधी के आर्थिक योजनाओं का वृहद् रूप सर्वोदय है जिसका अर्थ है सबका उदय और सबका विकास।⁸

मार्क्स के प्रति भी आज की शोषित जनता कृतज्ञ है, क्योंकि उन्होंने आधुनिक युग को शोषण मुक्त करने के लिए एक महान् जीवन दर्शन दिया है।⁹ गाँधीवाद और मार्क्सवादी अधिकांशतः पूंजीवादी व्यवस्था और औद्योगिक सभ्यता की निष्ठुर तथा अमानवीय सत्यात्मकता के विरोधी के रूप में अस्तित्व में आए।¹⁰ वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों में से एक है।¹¹ कार्ल मार्क्स एक दार्शनिक होने के अतिरिक्त अपने समय का जाना-माना अर्थशास्त्री भी था। उसने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का गंभीर अध्ययन किया और अपने “कैपिटल” नामक ग्रंथ में पूंजीवादी समाज की अर्थव्यवस्था का विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया।¹² मार्क्सवादी दर्शन एक भौतिकवादी दर्शन है जो मानव-गति विधियों से लेकर प्रकृति के समग्र कार्यकलापों की परख और समझ के लिए द्वन्द्वात्मक पद्धति को आधार मानकर चलता है।¹³

मार्क्स मानवता का सबसे बड़ा पुजारी होते हुए भी वे ख्याली घोड़े नहीं दौड़ाते, वे काल्पनिक जगत में स्वच्छंद विचरण करना पंसद नहीं करते। वे इस दुनिया की ठोस हकीकत को ही अपने अनुसंधान का आधार बनाते थे। उनकी शिक्षा है कि ऐतिहासिक विकास के क्रम को समझने की कुंजी समाज में है। मनुष्य सामाजिक है। संसार से बाहर उसका अस्तित्व नहीं है।

यह कहा जा सकता है कि जब-जब समाज तरक्की करता है, एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर जाता रहता है तब-तब विचार प्रणालियों की दिशा प्रधानतः उस समय के आर्थिक रचना के द्वारा निर्धारित होती रहती है। मार्क्स ने बतलाया कि किसी विशेष परिस्थिति में विशेष प्रकार के नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले महापुरुष स्वयं बदली हुई परिस्थितियों के परिणाम होते हैं और उनका सिद्धान्त भी समाज में इसलिए स्वीकार किया जाता है कि वह नयी परिस्थितियों के अनुकूल ही होता है।

मार्क्स का हृदय इतना विशाल और कोमल था कि औरों की अपेक्षा मानव समाज के साधारण से साधारण दुःख भी उसको ज्यादा प्रभावित करते थे। जिस प्रकार भूकम्प मापक भय पृथ्वी के सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पना का हिसाब रखता है उसी तरह मार्क्स मनुष्य के साधारण कष्ट का हिसाब रखते थे। समाज के इस अन्याय को वह सहन नहीं कर सकते थे कि एक वर्ग के लोग सम्पन्न और सुसंस्कृत हों और दूसरे गुलामों की तरह रात-दिन मेहनत करने पर भी जिन्दगी की साधारण आवश्यकताओं से वंचित रह जाये।

मार्क्स सर्वोपरि क्रान्तिकारी थे। जीवन में उनका असली उद्देश्य किसी न किसी तरह पूंजीवादी समाज और उससे पैदा होने वाली राजकीय संस्थाओं के ध्वंस में योगदान करना था। संघर्ष करना उनका गुण था। उन्होंने ऐसा जोश, ऐसी लगन और सफलता के साथ संघर्ष किया जिसका मुकाबला नहीं है। उन्होंने महान् अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना की थी। यह इतनी बड़ी उपलब्धि थी कि इस संगठन का संस्थापक चाहे उसने कुछ भी और न किया हो, उस पर उचित ही गर्व कर सकता था।

मार्क्स व गाँधी दोनों ही प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे और मानव जाति के लिए क्रान्तिकारी महत्त्व के आन्दोलनों के सूत्रधार थे। दोनों ही शोषित जनता के लिए आशा की किरण थे। यदि मार्क्सवाद सम्पूर्ण विश्व के लिए आशा की किरण था तो हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि बहुत से राष्ट्रों ने गाँधी के स्फूर्तिदायक नेतृत्व में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की बेड़ियों को तोड़ फेंका। वस्तुतः गाँधीजी एशिया और अफ्रीका के पुनरुत्थानशील मानवोद्धारक आन्दोलनों के ज्योति प्रवर्तक थे।

गाँधी तथा मार्क्सवादी दोनों ही अपने एतद् विषय विश्व दर्शन को पूंजीवादी समाज की संस्कृति और सभ्यता के लिए एकमात्र वांछित विकल्प के रूप में स्वीकार करते हैं। युगसुधारवादी प्रकृति से सम्पन्न होने के कारण इन दोनों दर्शनों में से किसी एक के चुनाव का कार्य आपाततः कठिन है। फिर भी हमें इन दोनों की तुलनात्मक दृष्टि को समझने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं का अध्ययन करना होगा ताकि यह स्पष्ट हो सके कि कहाँ-कहाँ इन दोनों के विचारों में समानता व असमानता है।

सामाजिक उद्विकास -

मार्क्स की सामाजिक उद्विकास की आर्थिक व्याख्या के समान गाँधी ने भी मानव इतिहास की अपनी विशिष्ट व्याख्या की है। गाँधी के अनुसार संघर्ष स्वयं ही एक मनोवैज्ञानिक घटना है। मानव इतिहास की व्याख्या में इस मनोवैज्ञानिक घटना की उपेक्षा नहीं की जा सकती। गाँधी जी के अनुसार आर्थिक कारकों के अतिरिक्त भी अन्य कई कारक सामाजिक दशाओं के निर्धारण में योग देते हैं। इस दृष्टि से गाँधी जी मार्क्स की उस विचारधारा से सहमत प्रतीत नहीं होते जिससे उनके समानता सामाजिक उद्विकास का कारण केवल आर्थिक कारकों को माना है। मार्क्स ने इस भाँति अपने सिद्धान्त में मनुष्य की सर्वथा उपेक्षा कर दी है। गाँधीजी ने बताया है कि मार्क्स ने अपने सिद्धान्त में आर्थिक शक्तियों पर अत्यधिक केन्द्रित हो जाने के कारण अनार्थिक शक्तियों पर ध्यान ही नहीं दिया जबकि अन्य शक्तियाँ भी सामाजिक उद्विकास में महत्त्वपूर्ण होती हैं। इस दृष्टि से उसने सत्य, अहिंसा, नैतिक व सामाजिक नियन्त्रण के तत्त्वों को उत्तरदायी बताया है।

साधना-साध्य -

आदर्श -समाज की प्राप्ति के लिए गाँधी अहिंसात्मक उपायों के प्रयोग के सम्बन्ध में कृत संकल्प हैं। इस दृढ़ता का आधार गाँधीवादी अध्यात्म-दर्शन और आचार शास्त्र में प्राप्त होता है। जहाँ साधन और साध्य अन्योन्याश्रित है, वहीं मार्क्सवादी दृष्टिकोण यह औचित्य सिद्ध करते हैं कि साध्य और साधन परस्पर परिवर्तनीय पद है और साध्य का उदय साधन से होता है। जिस प्रकार वृक्ष का उदय बीज से होता है।¹⁴ साधन और साध्य के मध्य का ठीक वैसा ही अनुलंघनीय सम्बन्ध है, जैसा बीज और वृक्ष के मध्य। उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। बुरे साधन द्वारा अच्छे साध्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।¹⁵ शोषण और उत्पीड़न से मुक्त गाँधीवादी अहिंसात्मक समाज जैसे साहस की प्राप्ति के लिए साधन भी अहिंसक होने चाहिए।

गांधी ने कहा था- जनसमूह का प्रजातंत्र या स्वराज्य असत्यपूर्ण और हिंसात्मक उपायों के माध्यम से कभी नहीं आ सकता, क्योंकि उनके प्रयोग का स्वाभाविक परिणाम होगा सम्पूर्ण विपदा की प्रतिनिधियों के दमन या ध्वंस द्वारा समाप्त करना। इससे वैयक्तिक स्वतन्त्रता उत्पन्न नहीं होगी।¹⁶ गाँधीजी का साधन के प्रति उनका विशेष आग्रह गीता के निष्काम कर्म के आदर्श से उद्भूत हुआ है।¹⁷

वे मार्क्सवाद के इस आधारभूत तत्व को स्वीकार करते हैं कि मात्र कर्म के द्वारा ही आस्था की परीक्षा हो सकती है। लेकिन ऐतिहासिकता की रक्षा के लिए मार्क्स में जिसकी बलि दे दी उस अनुभवमूलक नियन्त्रण आधार मूलक आधार को प्रस्तुत करने के कारण गांधी मार्क्स से एक पग आगे हैं। जहाँ मार्क्स ने विषय वस्तु का सूत्रपात किया है और संघर्षों के स्वरूप और उनकी दिशा का पहले ही निर्धारण कर लिया है वहाँ गांधी का इस बात पर आग्रह है कि प्रक्रिया और पद्धति का उचित होना आवश्यक है। गाँधी के लिए उस पद्धति का अर्थ वह अहिंसात्मक पद्धति है, जो सामाजिक मतभेदों को दूर करती है और सम्बन्धों को रचनात्मक तथा शान्तिपूर्व ढंग से संचालित करती है।¹⁸ उनके अनुसार साधन और साध्य के बीच कोई द्वैत नहीं है। दोनों ही समान रूप से शाश्वत प्रक्रिया है।¹⁹

आर्थिक समानता -

मार्क्सवादी विचारक समता लाने के लिए पूंजीपतियों के प्रति प्रतिशोध का भाव रखते हैं। गाँधी पूंजीपति के प्रति न तो ईर्ष्या रखते हैं और ना ही प्रतिशोध का भाव रखते हैं। वे केवल पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन करना चाहते हैं। मार्क्सवादियों का यह

विश्वास है कि केन्द्रित उत्पादन और वितरण की व्यवस्था से आर्थिक विषमता मिटाई जा सकती है और गाँधी का यह विश्वास है कि विकेन्द्रित उत्पादन की व्यवस्था से ही आर्थिक विषमता मिटाई जा सकती है। केन्द्रीकरण के मूल में ही हिंसा बैठी हुई है जिसका वीभत्स रूप आज हम दुनिया के औद्योगिक राज्यों में देख रहे हैं। गाँधी पूंजीवादी व्यवस्था को बदलने के लिए श्रमिकों में अहिंसक-असहयोग का प्रशिक्षण देना चाहते हैं जिसमें श्रमिक अपनी ही शक्ति का विकास कर परिस्थिति में अनुकूल परिवर्तन ले आते हैं, गाँधी ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के द्वारा आय का समान वितरण करना चाहते हैं। वे तो वकील, डॉक्टर, हाथ-कारीगर और मेहतर-सबके समान वेतन की बात करते हैं। गाँधी का सिद्धान्त समाजवादियों के सिद्धान्त की तुलना में काफी दूरदर्शितापूर्ण और व्यावहारिक है।¹⁰

वर्ग-शुद्धि और सामाजिक सामंजस्य का आदर्श

मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को गाँधी अग्राह्य सिद्ध करते हैं। वे समस्त मानव जाति के सामान्य हित की भावना से आरंभ करते हैं और वर्ग-संघर्ष की धारणा के स्थान पर सामाजिक हित और सामंजस्य के यथेष्ट तर्क संगत सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। गाँधी वर्ग भेद के स्थान पर वर्ग शुद्धि के हिमायती हैं। इसका उद्देश्य बलपूर्वक पूंजीपतियों की सम्पत्ति का हरण न होकर, सम्पूर्ण जन समुदाय द्वारा जागरूक और स्वच्छंद होकर सम्पत्ति का सदुपयोग है। यह आदर्श शान्तिपूर्ण सामाजिक पुनर्निर्माण की ओर अर्थमुक्त सामूहिक नैतिक क्रान्ति द्वारा ही पूर्ण हो सकता है।

सामाजिक योजना के सम्बन्ध में मार्क्स और गाँधी दोनों ही सामाजिक समता और मानव स्वतन्त्रता के आदर्श को स्वीकार करते हैं। लेकिन इसकी पूर्ति के लिए अपनाए गए दोनों दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। मार्क्स क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए यदि आवश्यक हो तो हिंसा पर जोर देते हैं, जबकि गाँधी का विश्वास है कि वर्गहीन समाज की स्थापना प्रेम और अहिंसा की गत्यात्मक रूपान्तरण शक्ति द्वारा की जा सकती है।¹¹

धर्म और नैतिकता -

गाँधी के लिए धर्म और नीतिशास्त्र इतनी घनिष्ठता से परस्पर सम्बद्ध है कि करीब-करीब परस्पर परिवर्तनीय शब्द बन जाते हैं।¹² उनके अनुसार धर्म आधारभूत नैतिकता का चट्टानी तल है। उन्होंने कहा है, “मैं आत्म ज्ञान, ईश्वर से साक्षात्कार और मोक्ष चाहता हूँ। उनका विश्वास है कि सेवा में और बलिदान का एक सच्चा धार्मिक जीवन ईश्वरीय सृष्टि सेवा में है।¹³ विश्व के सभी महान् धर्मों में पाए जाने वाले समान

आधारभूत नैतिक मूल्यों में विश्वास करते हुए गाँधी ने सभी धर्मों की आधारभूत एकता का प्रतिपादन किया है। वे हिन्दू धर्म को व्यापक अर्थ में मानव जाति के सभी महान् धर्मों जैसे यहूदी, ईसाई, इस्लाम, पारसी धर्म को सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। गाँधी विश्व के सभी महान्-धर्मों की मूलभूत शिक्षाओं में विश्वास करते थे।

इसके विपरीत मार्क्स सम्पूर्ण मध्यवर्गीय आचार और नैतिकता व्यवस्था के साथ ही सभी मध्यवर्गीय संस्थाओं के विनाश पर खड़े हुए थे, क्योंकि उनमें अधिकांशतः धार्मिक विश्वास पर आधारित अनुमति द्वारा घोषित थे। अतः इनका विनाश करने के लिए धर्म का संहार करना भी उनके लिए अनिवार्य हो गया। द्वन्द्वात्मक भौतिकतादी होने के कारण धार्मिक भावना को उन्होंने सामाजिक देन माना है।

“धर्म जनता की अफीम है”,²⁴ मार्क्स की यह उक्ति धर्म विषयक सम्पूर्ण मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आधार शिला है। मार्क्स ने सभी आधुनिक धर्मों, मठों और सभी धर्म संस्थाओं को यह मध्यवर्गीय प्रतिक्रिया का उपकरण माना है जो शोषण का समर्थन और श्रमिक वर्ग के लिए सदैव बेहोशी की दवा का कार्य करते हैं।

धर्म के नाम पर निरन्तर चलते रहने वाले शोषण के विरुद्ध संघर्ष में गाँधी मार्क्स से पूर्णतः सहमत है। सहिष्णुता की भावना, पारस्परिक प्रेम, सार्वभौमिक शान्ति, सामाजिक न्याय और विश्व बन्धुत्व सभी धर्मों का लक्ष्य होता है।

मार्क्सवाद ने धर्म को अस्वीकार करके व्यक्ति के अच्छे और संयमित आचरण की बहुत बड़ी प्रेरक शक्ति का अपहरण कर लिया है। धर्म के संश्लेषणात्मक पक्ष से सम्बन्धित गाँधीवादी दृष्टिकोण मानव जाति के लिए चिर स्थाई शक्ति के मार्ग और सर्वोदय-भविष्य का आदर्श समाज के भातृत्व में मानव के मूल धर्म की उद्घोषणा करता है।

पूँजीवाद और औद्योगिक व्यवस्था -

मार्क्स का जन्म और पालन-पोषण एक ऐसे वर्गीय समाज में हुआ जिसका पूँजीवाद अपनी यदमात्यन नीति के अतिवादी छोर तक पहुँच चुका था। शोषण, परायापन, युद्धोन्मुखता, मांग और पूर्ति के नियम के अभिशाप के कारण पूँजीवाद व्यवस्था अनपेक्षित बन गयी थी। वस्तुतः मार्क्स अपने जन्मजात अन्तर्विरोधों के कारण विनष्ट होने के लिए अभिशाप पूँजीवादी व्यवस्था के सर्वनाश के महीसा हुए हैं।

गाँधी मार्क्स की भांति वे पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक शोषण के विरुद्ध थे। गाँधी ने पाश्चात्य सभ्यता के हास और पतन की भविष्यवाणी की थी। किन्तु मानव आत्मा के पुनर्नवीनीकरण की शक्ति से उनका विश्वास नहीं उठा था।

गाँधी ने आधुनिक सभ्यता को एक दैत्य कहा है जो भारतीय संस्कृति से नैतिक और आध्यात्मिक आचार को ध्वस्त करने के लिए अपनी स्पर्शिकाएँ भारत की ओर बढ़ा रहा था। हिन्दू स्वराज्य में औद्योगिक सभ्यता और बढ़ते हुए प्रविधि संगतिकरण, यंत्रीकरण शहरीकरण व्यक्तित्व विहीन करण, परमानवीकरण और कर्मचारयीकरण पर प्रथम चोट की है। प्रकृति की दानशीलता के मध्य उन्हें सादगी के जीवन की तलाश थी। वे सोचते थे कि भारत के पुनर्जीवन संचरण का अर्थ उसके गाँवों को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और राजनीतिक दृष्टि से जागरूक और मानसिक दृष्टि से सतर्क बनाना है। चर्खा अर्थात् स्वायत्तशासी ग्राम गणतंत्र और बुनियादी शिक्षा, गाँधीवादी अहिंसात्मक क्रान्ति के प्रतीक थे। यह आर्थिक समानता से युक्त एक ऐसा राज्य था, जिसकी विशेषता हर प्रकार के बल प्रयोग और शोषण की अनुपस्थिति थी। उन्होंने कहा था कि थोड़े से लोग विपुल सम्पदा से उन्मत्त हैं और सामान्य जन को पर्याप्त भोजन तक नहीं मिल पाता।

वैयक्तिक परिवर्तन द्वारा सामाजिक रूपान्तरण -

यदि मार्क्स पूंजी संचयन और उसके फलस्वरूप होने वाले शोषण के शत्रु थे तो गाँधी भी किसी प्रकार के संचयन के कम विरोधी नहीं थे। लेकिन दोनों ने भिन्न बिन्दुओं पर जोर दिया है। गाँधी के लिए प्रयास बिन्दु व्यक्ति था। उनका विश्वास था कि यदि व्यक्ति अपने को परिवर्तित कर ले तो समाज स्वयं परिवर्तित हो जायेगा। उनके लिए पूंजी में किसी प्रकार की बुराई नहीं थी। वह पूंजी और श्रम के मध्य एक हार्दिक गठबन्धन का समर्थन करते हैं।

दूसरी ओर मार्क्स व्यक्ति में परिवर्तन लाने के लिए सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे में परिवर्तनार्थ अत्यधिक तल्लीन थे। व्यक्ति और सामाजिक व्यवस्था के मध्य अन्तर को स्वीकार करते हुए भी मार्क्सवाद व्यक्ति को सामाजिक सम्बन्धों की देन मानता है। इस सम्बन्ध में गाँधीवादी पद्धति, अधिक वैज्ञानिक और मनोविज्ञान जो मानव समाज की काया पलटने के लिए थे, पूर्व शर्त के रूप में हृदय परिवर्तन पर जोर देती है। इस मनोवैज्ञानिक व्यवहार के बिना कोई भी बाह्य उपकरण इच्छित परिणाम नहीं प्रदान कर सकेगा।

यंत्र के रूप में मानव -

औद्योगिक बेकारी या औद्योगिक आरक्षित के सिद्धान्त की स्थापना करने वाले मार्क्स की भाँति गाँधी भी हर प्रकार के यंत्रीकरण के विरोध के लिए प्रेरित हुए, क्योंकि इसके द्वारा बेकार सुस्ती और बौद्धिक निष्क्रियता की सृष्टि हुई है। उनका विरोध यंत्र जैसी

किसी वस्तु से नहीं, वरन् यंत्र के लिए विवेकशून्य सनक के प्रति था। आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले मूल उद्योगों के राष्ट्रीकरण का उन्होंने कहा था। मार्क्स ने भी इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि जब तक यंत्र को मनुष्य के दास के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जायगा, तब तक पूंजीवाद की असह्य बुराइयों का अस्तित्व कायम रहेगा।

गाँधी का श्रम सम्बन्धी दृष्टिकोण मार्क्स से बहुत अधिक भिन्न है। पूंजी और श्रम की परस्पर निर्भरता की उनकी धारणा, उनके धार्मिक दृष्टिकोण और समस्त जीवन की एकता में विश्वास पर आधारित है। गाँधी ने उस दीन-हीन असहायों को “दरिद्रनारायण” की संज्ञा दी है। इसके विपरीत श्रमिक को शासित के वर्ग के रूप में स्वीकार करते हैं? मार्क्स पूंजीपतियों के निर्मम शोषण के प्रति श्रमिक वर्ग को सावधान करने के लिए “अतिरिक्त मूल्य” के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। यद्यपि गाँधी मार्क्स की भाँति ही उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम की सर्वोच्चता को स्वीकार करते हैं, लेकिन श्रमिक की नैतिक स्वाधीनता और आवश्यक प्रतिष्ठा पर अधिक ध्यान देते हैं। गाँधी कहते हैं कि शोषित होने से इनकार करके श्रमिक यदि अपनी प्रतिष्ठा के आग्रह पर दृढ़ रहे तो पूंजीवाद अपनी पूर्ण असहायता की स्थिति तक पहुँच जायेगा। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि “पूँजीवाद श्रम का दास है, स्वामी नहीं।”²⁵

वर्ग संघर्ष और क्रान्ति -

मार्क्सवादियों के अनुसार अब तक विद्यमान समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।²⁶ स्वाधीन और गुलाम, कुलीन और अकुलीन, स्वामी और दास, सेठ और कमजोर, एक शब्द में कहें तो उत्पीड़क, निरन्तर एक दूसरे के विरुद्ध कभी प्रकट और परीक्षा रूप से निर्बाध एक ऐसे युद्ध में लगे रहते हैं जिसका अन्त सदैव या तो क्रान्तिकारी पुनर्गठन में होता है या संघर्षरत वर्गों के सामूहिक विनाश में। मार्क्स के अनुसार आर्थिक हित, वर्ग की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। यद्यपि मार्क्स पर्याप्त सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त अनेक वर्गों को केवल दो में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वह जो उत्पादन के साधनों का नियमन करता है और जो प्रभावी वर्ग होता है तथा दूसरा जिसका शोषण किया जाता है जो निर्धन वर्ग है।²⁷ वर्गों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता अनिवार्य होती है। इन अन्तर्विरोध के माध्यम से या विरोधियों के संघर्ष के माध्यम में वाद और प्रतिवाद के क्रम से प्रगति या संवाद उपस्थित होता है। सर्वहारा की अन्तिम विजय की अपरिहार्यता में मार्क्सवादियों का विश्वास प्रचार के रूप में तो ठीक हो सकता है किन्तु विज्ञान के रूप में यह संतोषजनक नहीं है।²⁸

राजनीतिक दर्शन-

गांधी और मार्क्स दोनों के राज्य सम्बन्धी दृष्टिकोणों में अद्भुत साम्य है। दोनों ने राज्य का विरोध किया और उसके उन्मूलन का प्रयास किया है। यद्यपि दोनों के आक्रमण केन्द्रीय रहे हो। गाँधी की दृष्टि में यह हिंसा के संकेन्द्रित और सुव्यवस्थित रूप का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिये गाँधी जी ने राज्य की शक्तियों में किसी भी प्रकार की वृद्धि को सन्देह की दृष्टि से देखा है, क्योंकि इसका परिणाम शक्ति का केन्द्रीकरण और इसके फलस्वरूप उसका दुरुपयोग होता है।¹⁹ गाँधी का कथन है कि “वह राज्य पूर्ण और अहिंसात्मक है जहाँ जनता कम से कम शासित होती है।”²⁰

इसके विपरीत मार्क्स राज्य को वर्गदमन के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार राज्य अनिवार्यतः बुराई है, क्योंकि वह वर्ग की उपच है। वर्गहीन समाज के आविर्भाव के साथ ही राज्य पुरावशेषों के संग्रहालय में डाल दिये जायेंगे। इस प्रकार गाँधी और मार्क्स अपने राजनीतिक विचारों की दृष्टि से अराजकतावादी कहे जा सकते हैं। वे दोनों ही किसी राज्य संपन्न से विहरित और हर प्रकार के शोषण से मुक्त वर्गहीन समाज के आदर्श की कल्पना करते हैं।²¹ गाँधी के अनुसार पूर्ण अहिंसा के आधार पर गठित और संचालित समाज ही शुद्धता अराजकता है। मार्क्स पहले मध्यवर्गीय राज्य समाप्त करना चाहते हैं और फिर उसके स्थान पर सर्वहारा के अधिनायकत्व पर आधारित “अर्थ-राज” स्थापित करना चाहते हैं। मार्क्सवाद के अन्तर्गत एक ऐसा अर्थपूर्ण और सर्वग्राही प्रजातंत्र होगा, जो बिना किसी विद्वेष और कड़वाहट से सभी वैचारिक मतभेदों को भूल पाने में समर्थ होगा। गाँधी के राम राज्य का आदर्श एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सत्य के निदेशों का पालन करता है और अपने अन्तःकरण की आवाज से उद्घाटित नैतिक नियम के द्वारा अनुशासित होता है। जब लोग सत्य और सद्गुण के द्वारा अपने कार्यों की ओर प्रेरित होंगे, तो राज्य की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। व्यक्ति उन्मुक्त तथा समतापूर्ण जीवन व्यतीत करेंगे। यह आदर्श सर्वोदय समाज असंख्य स्वायत्तशासी, आत्म निर्भर गांवों से मुक्त होगा, जो अपने सभी कार्यों की व्यवस्था यहाँ तक कि बाहरी विश्व से अपनी सुरक्षा में भी पूर्ण समर्थ होगा।

इस सम्बन्ध में गांधी की अपेक्षा मार्क्स अधिक स्वतंत्रदर्शी है, क्योंकि अधिक कट्टरता से उनका आग्रह है कि राज्य विहिन और वर्ग विहीन समाज के परम लक्ष्य की सिद्धि अवश्यंभावी है। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि आदर्श उपलब्ध है जबकि गांधी के लिए आदर्श स्पृहनीय है।

आध्यात्मिक आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद-

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में गाँधी को आंशिक सत्य दिखाई देता है। वे मार्क्स से इस सम्बन्ध से सहमत हैं कि जीवन एक सुसम्बद्ध और सुगठित इकाई है और जीवन के किसी भी तत्त्व को पार्थक्य के अन्तर्गत नहीं समझा जा सकता।

वह यह स्वीकार करते हैं कि जीवन निरन्तर द्रवणशीलता की स्थिति में होता है और गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नहीं होते बल्कि छलांग के रूप में द्रुत और आकस्मिक होते हैं। फिर भी वे इतिहास पर द्वन्द्व नियम के लागू होने के सम्बन्ध में मार्क्स से सहमत नहीं हैं। सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी कहा है, “आर्थिक परिस्थिति के महत्त्व पर जोर देना ठीक है लेकिन यह सुझाव कि वे इतिहास के एकदम निर्धारक हैं, ठीक नहीं।” मार्क्स के लिए क्रान्ति समाज के आर्थिक ढांचे में परिवर्तन का द्योतक है, जबकि गाँधी के लिए सभी क्रान्तियाँ आध्यात्मिकता से बहुमूल्य होती हैं। जीवन मूल्यों में परिवर्तन के आरम्भ से ही समाज के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक ढांचे में भी परिवर्तन आरम्भ हो जाते हैं। गाँधीवादी दर्शन इस अर्थ में आदर्शवादी है, क्योंकि वह ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है और आत्मा को पदार्थ से श्रेष्ठ मानता है। वह मार्क्स के भौतिकवादी विश्व दर्शन को इस आधार पर अस्वीकार करता है कि मानवीय चेतना को चाहे उसका जो भी मूल हो, ठीक उसी ढंग से नहीं समझा जा सकता, जिस ढंग से पदार्थ का।

ईश्वर को अस्वीकार करके मार्क्सवाद आचार-शास्त्र के मूल पर ही कुठाराघात करता है। यदि ईश्वर ही न हो तो नैतिकता और आचार की दैवी उत्पत्ति के नहीं हो सकते। मार्क्सवादी इस तात्त्विक प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ है कि मनुष्य को क्यों नेक होना चाहिये अर्थात् उसे क्यों, प्रेम, सत्य, दया, निःस्वार्थता, आत्म-त्याग और आत्मोत्सर्ग के सद्गुणों से परिपूर्ण होना चाहिए।

इस प्रकार गाँधी सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए मार्क्सवादी उत्पीड़न और बल प्रयोग को पद्धति के विरुद्ध व्यक्ति के हृदय परिवर्तन की पद्धति पर अधिक जोर देते हैं। इसलिए उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को अस्वीकार किया तथा उसके स्थान पर आधिभौतिक आदर्शवाद और इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या को अपनाया है।

मानव-प्रकृति की धारणा :-

मार्क्सवादी मानव प्रकृति को समाज की निर्मित और मनुष्य को अपने परिवेश की उपज मानते हैं। फलस्वरूप उसके कृत्य और विचार इसकी विधियों के अनुरूप

होते हैं। अतः मनुष्य के एतद्सम्बन्धित वातावरण में परिवर्तन के द्वारा ही मानव प्रकृति में कोई परिवर्तन संभव हो सकता है।

इसके विपरीत गाँधी मानव प्रकृति को दुष्ट और समाज की निर्मित मानने वाले दोनों ही धारणाओं का खण्डन करते हैं। गाँधी के अनुसार मनुष्य मूलतः नेक प्राणी है। देवत्व का एक अंश होने के कारण उनके दैवी गुणों का अधिष्ठान होता है। सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन मानव प्रकृति में भी कुछ परिवर्तन ला सकता है। लेकिन वे मात्र सतही होते हैं। ऐसे तात्त्विक नहीं कि बुराइयों को निष्कासित कर सके। दृढ़ आत्मानुशासन प्रशिक्षण द्वारा सूक्ष्म दृष्टि का सम्बन्ध मानव प्रकृति की खोट के शुद्धिकरण में सहायक हो सकता है। तात्त्विक होने के लिए किसी रूपान्तरण का आरंभ से ही प्रभावशाली होना अति आवश्यक है। इस सम्बन्ध में गाँधी मार्क्स से आगे है।¹² गाँधी के अनुसार मानव प्रकृति सत् और असत् दोनों ही तत्त्वों का मिश्रण है। लेकिन उसका सत् उसके असत् पर सदैव हावी होता है।¹³ मार्क्स निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि मनुष्य की आर्थिक अवस्था में प्रगति ही राज्य के जन्म उसके विकास उसके स्वभाव में परिवर्तन और अंततः उसकी समाप्ति की ओर उन्मुख करती है। गाँधी ने भी मानवता को राज्यविहीन अहिंसात्मक समाज में प्रविष्ट कराते हुए राज्य के लोप की कल्पना की है, किन्तु उन्होंने इसे मानव जाति के प्रगतिशील नैतिक उत्थान का परिणाम सिद्ध किया है।

कार्य पद्धति और दार्शनिक नियतिवाद :-

मार्क्सवाद साधन की समस्या के यथोचित समाधान में असफल रहा है।¹³ मार्क्स के अनुसार क्रान्ति की उपलब्धि अधिकतम कल्याण है। लक्ष्य तक शीघ्र पहुँचने के लिए आवश्यक हिंसा या दमनकारी साधनों का सहारा भी उनके लिए आवश्यक है। इसलिए मार्क्सवादियों का कहना है कि निश्चित रूप से साध्य ही साधन के औचित्य को सिद्ध करता है। मार्क्स ने तो हिंसा को साम्यवादी क्रान्ति का गीत घोषित किया है। मार्क्सवादी खुले आम घोषणा करते हैं कि उनके लक्ष्य की प्राप्ति, सम्पूर्ण विद्यमान सामाजिक व्यवस्था की बलात् समाप्ति से ही संभव हो सकती है।¹⁴ ठीक उसी स्वर में लेनिन भी घोषित करते हैं। कोई भी साधन जो उद्देश्य की ओर अग्रसर करता है चाहे कितना ही उद्धत और अशान्तिदायक हो, क्रान्तिकारी के रूप में मुझे पंसद है। गाँधीवाद एक विश्वव्यापी वर्ग-विहीन समतुल्य सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक उपायों का समर्थन है, जिसके अन्तर्गत बुराई और शान्ति का प्रतीक राज्य अपने आप लुप्त हो जाएगा। इसमें विश्वव्यापी सामंजस्य पर आधारित शाश्वत प्रगति होगी मात्र अहिंसात्मक साधनों को अपनाने से ही वर्तमान सामाजिक ढाँचे में स्थायी और

आधारभूत परिवर्तन लाया जा सकता है। गाँधीवादी प्रयोग एक दूसरे के ही आधार का सुझाव देता है, जिस पर साधन की समस्या के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही समाधान किये जा सके।

निरपेक्षवाद एवं सापेक्षवाद :-

गाँधी ने अपने साध्य और साधन के दृष्टिकोण को इस अध्यात्मवादी विश्वास पर आधारित किया है कि समस्त विश्व एक नैतिक विधि द्वारा अनुशासित होता है या ब्राह्मण्ड के अन्तःकरण में एक नैतिक व्यवस्था का अधिष्ठान है। इस प्रकार के नीति शास्त्रीय निरपेक्षतावाद में विश्वास करते हैं और सत्य तथा अहिंसा को पूर्णतः अनिवार्य मानते हैं। गाँधी प्राचीन भारतीय आदर्शवाद और नीति शास्त्रीय निरपेक्षवाद के आधुनिक प्रतिनिधि थे।

गांधी के विपरीत मार्क्स सापेक्षवादी नीतिशास्त्री का अनुमोदन करते हैं। उनका विश्वास है कि किसी समाज की नीति शास्त्रीय व्यवस्था का निर्धारण, उनके धर्म और उनकी विधियों की भाँति समाज के आर्थिक ढाँचे की संघटना और समाज विशेषों के उत्पादन की अवस्थाओं द्वारा होता है। मार्क्स की भाँति ही गाँधी जी इस मत को स्वीकार करते हैं कि नैतिक धारणाएँ और व्यवहार के मानदण्ड युगानुरूप बदलते हैं तथा प्रत्येक पीढ़ी को अपनी आधार शास्त्री व्यवस्था की रूप रेखा स्वयं बनानी पड़ती है। लेकिन मार्क्स की भाँति ही गाँधी के लिए भी आधार शास्त्रीय और नैतिक मूल्यों को सापेक्षता से सहमत हैं कि समाज की प्रगति के साथ ही उसकी आचार संहिता में भी उत्तरोत्तर पूर्णता आती है। गाँधीवादी सत्य, अहिंसा, पारस्परिक प्रेम, करुणा आत्मोत्सर्ग, विनम्रता अनासक्ति आदि सदगुण, मार्क्सवादी दृष्टिकोण एवं अपनी निजी विशेषता के कारण सदगुण नहीं हैं बल्कि वे आज तक तक सदगुण रहते हैं या रह सकते हैं, जब तक सर्वहारा के उद्देश्य की सिद्धि करते हैं।

नीति शास्त्रीय निरपेक्षतावाद का गाँधी दृष्टिकोण का आध्यात्मिक आदर्शवाद और अन्तः प्रेरणा की ही उपज नहीं है, बल्कि इस विश्वास पर भी आधारित है कि कुछ आचार-विषयक निरपेक्ष और अनुल्लेखनीय सिद्धान्त और नैतिक विधियाँ भी होती हैं, जिन्हें युग युगान्तर तक मान्यता प्राप्त रहती हैं।

आत्मा एवं पदार्थ की सत्ता :-

गाँधी और मार्क्स के मध्य एक मूलभूत अन्तर जीवन और जगत के प्रति उनके भिन्न दृष्टिकोणों में निहित है। अन्य दूसरे अन्तर या तो गौण हैं या मुख्य अन्तर के परिणाम

स्वरूप हैं। मार्क्स के अनुसार मात्र पदार्थ की विद्यमानता है'' जबकि गाँधी के लिए नव जीवन की विद्यमानता है। मार्क्सवाद भौतिकवाद पर आधारित है। यह सभी सामाजिक परिवर्तनों की कुँजी, मानव जीवन की भौतिक स्थितियों को मानता है किन्तु इसके विपरीत गाँधी का विश्वास है कि सामाजिक प्रगति का आधार पदार्थ नहीं, मन है। मार्क्स समाजवाद की अपरिहार्यता को आर्थिक आधारों और द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा सिद्ध करते हैं। गाँधी व्यक्ति के नैतिक, रूपान्तरण में आधार शास्त्रीय दलीलें प्रस्तुत करते हैं। वर्ग युद्ध और सम्पत्तिशाली वर्गों की सम्पत्ति का बलात् अपहरण, समाजवाद के लिए मार्क्सवादी उपाय है। किन्तु गांधीवाद पद्धति में वर्ग सहयोग अहिंसा और न्यायप्रियता को स्वीकार किया गया है।

मानवतावाद की परम्परा को स्वीकार करने के कारण मार्क्स मानव विवेक की सर्वोच्चता में विश्वास करते हैं। गाँधी मूलतः अन्तःप्रेरणा वादी हैं। पदार्थ पर आत्मा की सर्वोच्चता ही गाँधीवादी दर्शन की आधारशीला है। गाँधी आरंभ से ही एक सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक आध्यात्मिक सत्ता को मानकर चलते हैं जिससे ब्रह्म या ईश्वर या परम सत्ता को प्रभावित नहीं किया जा सकता। यह स्वयं सिद्ध है और इसका साक्षात्कार मनुष्य को आन्तरिक अनुभूति के द्वारा ही हो सकता है।

दूसरी ओर मार्क्स पदार्थ को मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं और चित्र या आत्मा को पदार्थ की छाया मात्र मानते हैं। मार्क्स के अनुसार पदार्थ आत्मा से श्रेष्ठ और वस्तुनिष्ठ यथार्थ के रूप में, यह वैज्ञानिक और तर्क सम्मत है। उन्होंने आस्था और अन्तःप्रेरणा का स्थान विवेक और विनाश को दिया है। वे मूलतः पदार्थ के दार्शनिक हैं।

उपसंहार :-

यद्यपि गाँधी और मार्क्स विश्व के शोषण और अन्याय को मिटाने तथा वर्गहीन समाज की स्थापना के समाज लक्ष्य से पारिचालित हैं, फिर भी दोनों भिन्न ध्रुवों पर खड़े हैं। उनमें आधारभूत और तात्विक मतभेद हैं, इसलिए उन्हें मिटाया या सुलझाया नहीं जा सकता।

यद्यपि दोनों ही शोषणमुक्त समाज और गौरवशाली नवीन विश्व की स्थापना का समान लक्ष्य अपनाए हुए हैं, तथापि लक्ष्यों की सिद्धि के लिए उनके द्वारा कल्पित मार्ग पूर्णतया भिन्न हैं। फ्रांस और जर्मनी के वैज्ञानिक दृष्टिवाद से प्रेरणा ग्रहण करते हुए मार्क्स मानव विवेक के द्वन्द्वात्मक प्रयोग के माध्यम से विज्ञान और औद्योगिकी को संयुक्त करके अपने आदर्श समाज "साम्यवादी स्वर्ग" की स्थापना करना चाहते थे। गाँधी

आध्यात्मिक परम्परा की प्रतिमूर्ति हैं और भारतीय संस्कृति की विरासत की उन पर गहरी छाप है। इस लक्ष्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दोनों ही अत्यधिक उच्च व्यक्तित्व और महान् प्रतिभा से युक्त महापुरुष को लाखों करोड़ों शोषित जनता के लिए वे आशा के संदेशवाहक थे। गाँधी के स्फूर्तिदायक नेतृत्व में भारत को स्वतन्त्रता मिली, जो अपने देशवासियों द्वारा राष्ट्रपिता के प्रिय विशेषण से विभूषित हुए। मार्क्सवाद भी विश्व भर में करोड़ों व्यक्तियों के लिए जीवन्त आस्था के केन्द्र थे।

आज की परिस्थितियों में यद्यपि महात्मा गाँधी व मार्क्स के विचार विभिन्न विद्वानों के द्वारा चर्चित होते रहते हैं और उनकी उपादेयता की भी चर्चा होती रहती है। किन्तु यदि हम निष्पक्ष दृष्टिकोण से देखें तो गाँधी व मार्क्स के बहुत से विचार संशोधन चाहते हैं। महावीर बुद्ध के विचार जो कल तक अनुकरणीय माने जाते थे आज वे भी समय की मांग के अनुसार परिवर्तित हो गये हैं। ठीक उसी प्रकार से गाँधी व मार्क्स के विचारों की पूर्णता तभी सिद्ध हो सकती है जब आज के परिवेश के अनुसार स्वतंत्रता प्रदान की जाए। आज के आधुनिक युग में सिर्फ हिंसा या अहिंसा का सहारा लेकर हम विश्व में शान्ति व्यवस्था स्थापित नहीं कर सकते हैं। उदाहरण के लिए भारत में पंजाब तथा आसाम की समस्याओं का समाधान भी अहिंसा व हिंसा के उचित समन्वय से ही सम्भव हो पाया है।²⁵

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. कार्ल मार्क्स, समाजशास्त्री अध्ययन, पृष्ठ संख्या 7
2. गाँधी एवं मार्क्स पृष्ठ संख्या 225
3. महात्मा गाँधी (वे व्यक्ति जिन्होंने दुनियाँ ही बदल दी)-3
4. भारतीय राजनैतिक चिन्तक 225
5. महात्मा गाँधी का समाज दर्शन, 23
6. वही, 53
7. वही, 153
8. गाँधी एवं मार्क्स 277
9. वही, 225
10. वही, 226
11. भारतीय समाज में वर्ग-संघर्ष 5
12. वही, 46

13. वही, 9
14. गांधी एवं मार्क्स 226-280
15. गाँधीवाद को विनोबा की देन 294
16. गांधी एवं मार्क्स 245-246
17. गांधीवाद को विनोबा की देन 291
18. गांधी एवं मार्क्स 246-247
19. गाँधीवाद को विनोबा की देन 292
20. गाँधीवाद को विनोबा की देन 246-247
21. गांधी एवं मार्क्स 244-245
22. गांधीवाद को विनोबा की देन 316
23. गांधी एवं मार्क्स 253-254
24. सामाजिक एवं मानवतावादी विचारक 17
25. गांधी एवं मार्क्स 255-261
26. पाश्चात्य प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक 262
27. पाश्चात्य प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक 262
28. गांधी एवं मार्क्स 242-243
29. गांधीवाद को विनोबा की देन 395-396
30. गांधीवाद को विनोबा की देन 399
31. गांधी एवं मार्क्स 234-264
32. गांधीवाद को विनोबा की देन 399
33. गांधी एवं मार्क्स 235-247
34. पाश्चात्य प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक 275-276
35. गांधी एवं मार्क्स 231-281

शोधार्थी

अहिंसा एवं शान्ति विभाग

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

Ācārāṅga-Bhāṣyam

by Ācārya Mahāprajña

Cauttham Ajjhayaṇam Samattam

CHAPTER-III ENDURANCE OF COLD AND HOT

PREFACE

The name of the fourth chapter is 'Right View'. Some people expound that the tolerance of suffering alone is righteousness in the discipline of the Jainas but this cannot be established to be so. In the beginning of the third chapter and also in the beginning of the present chapter, the Cūrṇi has said - righteousness cannot be achieved exclusively by suffering or by a pleasurable way; righteousness is indeed the abandonment of the passions. And the principal condition of righteousness is right view.¹ This chapter occupies a prominent place in the Ācārāṅga Sūtra, as the Cūrṇi has said - as a lamp placed in the middle of a hall enlightens the entire hall, exactly so this chapter being in the middle of the Ācārāṅga Sūtra expounds the entire doctrine of conduct.²

There are four sections in the present chapter. The topics of this chapter have been described under the following heads in the Niryukti -

- 1] The doctrine of the right view.
- 2] The examination of the view of upholders of heretical doctrines.
- 3] Description of faultless austerity. The unenlightened austerity has no universal instrumentality to the achievement of salvation.
- 4] A brief statement of self-discipline or self-restraint.

Concisely speaking, there is description of right view in the first section, right knowledge in the second, right austerity in the third, and right conduct in the fourth.³

The implication of the word 'right view' can be properly understood only through proper linguistic analysis of the meaning of the word 'right'. The word 'right' has been explained in the Niryukti through seven examples which relate to the various potentialities of an object, with respect to the various aspects of its origin in a proper way:⁴

1. **Rightly produced** - It is the proper way of doing something. For example, when it is said that the chariot has been made, it means that the chariot has been produced in a proper way with its parts joined rightly. Moreover the mental health of the maker of the chariot, and also the satisfaction with respect to the chariot being done nicely and quickly, of the person for whom the chariot is made are the physical fitness of the act of making the chariot.⁵
2. **Rightly renovated** - For example, when the parts of a piece of cloth are properly repaired to renovated, it is a physical act that is properly done.
3. **Rightly intermixed** - For example, when milk and sugar are properly mixed in order to make a mixture a good drink for the maker's or also for the drinker's mental satisfaction, it is a case of proper mixture of ingredients. The opposite of it, such as the mixture of sesame seeds and yogurt is an act of improper mixture, because the two ingredients are heterodox elements.
4. **Rightly applied** - For example, when a particular type of application is conducive to gain for oneself, it is a case of proper physical application. For example, a medicine for the sick, food for the hungry, drink for the thirsty.
5. **Rightly got rid of** - For example, if an article gives pleasure when it is got rid of, it is a case of proper physical abandonment, e.g., when a person is unloaded of a load, it is a case of proper unloading.
6. **Right break-up** - For example, if the breaking up of a thing solves any problem, it is a case of right breakage, e.g., when a pot containing yogurt is broken, the problem of the crow is solved. This is a case of proper physical breakage for the crow.

7. **Rightly operated** - For example, when something is properly cut it is a case of right cutting, e.g., when a lump of flesh or an abscess is properly operated, it is a case of proper physical act.

The spiritual tightness is threefold- rightness of view, rightness of knowledge and rightness of conduct.⁶

In the absence of right view, a person, even renouncing his own relatives, does not attain salvation, because he is possessed of wrong view.⁷ Srimad Jayacārya has supported this view, even though he conceded a partial fulfillment of the condition of salvation by person possessed of wrong view.⁸ Therefore, one should exert for the attainment of right view. The doctrine of non-violence is a perennial doctrine, which relates to the discipline of conduct. There exists right view as a prelude to this discipline. So long as right faith and right knowledge do not arise with respect to the six classes of living beings, the question of the practice of the doctrine of non-violence does not arise. It has therefore been said: the self-realised Arhats, having comprehended the world of living beings, have propounded this doctrine (4.2)⁹ and it is further said: this doctrine of ahimsā is the truth; it is truly axiomatic; it is rightly enunciated in the teachings of the Jina (4.4).¹⁰

The intention of the present chapter is not to prescribe the doctrine of not injuring any living being. The purpose of the chapter is to prove the verity and reality of the doctrine, and identify it with the right view. The implication is that the right conduct is preceded by the right view.

This chapter mentions the opinion of those who supported the commission of violence. Contrarily, it propounds the noble character of the doctrine of non-violence propounded by the Jinas. The doctrine of subtle vibrations caused by passions can also be seen here. The most ancient ascetic discipline and its gradual development have been properly described here. Contemplative reflection on loneliness has also found place in the chapter which also lays down the right direction for the researchers of the truth and inquirers of non-violence.

1. Ācārāṅga Cūrnī, p. 129 : ṇa ya egaṃteṇa dukkheṇa dhammo suheṇa vā kasāyavamaṇaṃ ca.

2. Ibid, p. 129: jahā vā cātussālamajjhagato divo taṃ savvaṃ ujjo veti evaṃ etaṃ ajjhayaṇāṇaṃ majjhagataṃ savvaṃ āyāraṃ avabhāsati.

3. Ācārāṅga Niriyukti, gāthā 214-215:
 padhame sammāvāo bīe dhammappavāiyaparikkhā.
 taie aṇavajjātavo na hu bālataveṇa mukkhuti..
 uddesaṃmi cautthe samāsavayaṇeṇa niyamaṇaṃ bhāṇiyaṃ.
 tamhā ya nāṇadaṃsaṇatavacarāṇe hoi jaiyavvaṃ.
4. Ibid, gāthā 217:
 aha davvasamma icchāṇulomiyaṃ tesu tesu davvesuṃ.
 kayasaṃkhayasamjutto pautta jadha binṇa chinṇaṃ vā.
5. Ācārāṅga Vṛtti, Patra 159.
6. Ācārāṅga Niriyukti, gāthā 218
 tivihama tu bhāvasammaṃ daṃsaṇa nāṇe tahā caritte ya.
 daṃsaṇacarāṇe tivihamaṃ nāṇe duvihamaṃ to nāyavvaṃ.
7. Ibid, gāthā 219-220.
 kuṇamāṇo'vi ya kariyaṃ pariccayaṃtovi sayanadhaṇabhoe
 diṃto'vi duhassa uraṃ na jīnai aṃdho parāṇīyaṃ..
 kuṇomāṇo'vi nivittiṃ pariccayaṃto'vi sayanadhaṇabhoe.
 diṃto'vi duhassa uraṃ micchaditthī na sijjai u.
8. Arādhana, aṣṭamadvāra, gāthā 4 :
 je samakita vīna mhaim, cāritra niṃ kiriyā re.
 bāra aṇaṃta karī, piṇa kāja na sariyā re.
 ॥ bhāve bhāvanā ॥
9. Āyāro, 4.2: samicca loyaṃ kheyaṇṇehiṃ paveie.'
10. Ibid, 4.4: 'taccama ceyama tahā ceyama, assima ceyama pavuccati.'

CHAPTER - IV

Right View

SECTION - I

- 4.1 se bemi - je aiyā, je ya paḍuppanā, je ya āgamaṣṣā arahaṃtā bhagavaṃto te savve evemaikkhaṃti, evaṃ bhāsaṃti, evaṃ paṇṇaveṃti, evaṃ parūveṃti - save pāṇā savve bhūta save jīvā savve sattā ṇa haṃtavvā, ṇa ajjāveyavvā, ṇa pariḥetavvā, ṇa paritāveyavvā, ṇa uddaveyavvā.

Thus do I say : All the adorable Lords who flourished in the past, are flourishing in the present and will flourish in the future unanimously declare, speak, propound and explain: animates, living beings, souls and living entities should not be injured, commanded, enslaved, tortured or killed.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1

Now, to the query about promulgator of the aphorism of non-violence; no living being should be injured, the Sūtra says that this was promulgated by the Adorable One. This is an eternal truth and therefore the Adorable Ones of the past also did so; the present Ones are doing the same and the future Ones also will do so. This indicates the oneness and the eternality of the truth.¹ The Adorable Ones are the Tīrthaṅkaras (ford-makers or Jinas). They are the Lords too because of their being worthy of Adoration or endowed with the treasure of knowledge.

The prāṇas (animates) are so called because they breathe in, breathe out, inhale or exhale.

The bhūtas (living beings) are so called because they existed in the past, do exist in the present and will continue to exist in the future.

The jivas (souls) are so called because they live and subsist according to their life-span karma.

The sattvas (living entities) are so called because they are possessed of good and bad deeds.²

There are five directive members in the aforesaid ahimsa aphorism:

- (1) they should not be injured by sticks and whips,
- (2) they should not be commanded by coercive order,
- (3) they should not be subjugated as servant or slave (male and female) with the sense of mineness,³
- (4) they should not be tortured by inflicting physical and mental pain,
- (5) they should not be killed by depriving them of life.⁴

4.2 esa dhamme suddhe ñiie sāsae samicca loyaṃ kheyaññehiṃ paveie.

This is the pure, perennial and eternal doctrine which was propounded by the self-realized Arhats who comprehended the world of living beings.

Bhāṣyam Sūtra 2

This five-membered discipline of non-violence has four characteristics :

- (1) it is pure on account of its being free from attachment and aversion,
- (2) it is perennial because there is no scope of any change in it,
- (3) it is eternally valid because it does not lose its validity in any of the three periods of the time,
- (4) it is propounded by the self-realized⁵ Jinas who comprehended⁶ the world of living beings.

The religion propounded by the people, ignorant of the self, is impure, because it is polluted by attachment and aversion. Such religion is possessed of plurality of views with vitiated self-nature, on account of being devised by wayward intelligence. From this follows the universal rule that there is essential identity in the religion which is revealed by the self-realized persons. Contrarily, there is no such identity in the religion that is preached by persons who have not realized the self.

The discipline of non-violence has been propounded by the self-realized Jinas. The implication is that self-realization is the fountainhead of the discipline, not the intellect. One who has realized the self is omniscient. It is only the self-realized person who is capable of knowing the root cause of suffering.

4.3 taṃ jahā - uṭṭhiesu vā, aṇuṭṭhiesu vā, uvatṭhiesu vā, aṇuvatṭhiesu vā uvarayadaṃḍesu vā, aṇuvarayadaṃḍesu vā, sovahiesu vā, aṇovahiesu vā, saṃjogaraesu vā, asaṃjogaraesu vā.

The discipline of non-violence is propounded for all (irrespective of their spiritual) condition such as whether they are spiritually awakened or not awakened for the practice of discipline; whether they are alert to the practice or not; whether they are eschewing or not eschewing the weapon of injury of life; whether they are possessed or not possessed of worldly things; whether they are attached or not attached to their relations.

Bhāṣyaṃ Sūtra 3

There is an universal purpose for the formulation of a religious discipline. Ten conditions of such formulation are give here:

- (1) **Awakened** : exerting for the discipline.
- (2) **Not awakened.**
- (3) **Alert** : desirous of hearing or accepting the discipline.
- (4) **Not alert.**
- (5) **Eschewing the weapon** : self-restrained.
- (6) **Not eschewing the weapon.**
- (7) **Possessed of material property** : possessed of gold etc.
- (8) **Not possessed of material property.**
- (9) **Attached to relations** : with attachment to progeny, wife etc.
- (10) **Not attached to relations.**

The self-realized ones have propounded the discipline for all these categories of people.

4.4. taccam ceyam tahā ceyam, assim ceyam pavuccai.

The doctrine of ahimsā is the truth; it is truly axiomatic; it is rightly enunciated in the teaching of the Jinas. The doctrine

“no living being should be injured” is the ultimate truth. It is exactly as it has been propounded. In this chapter on truth, this right view has been explained.

Bhāṣyaṃ Sūtra 4

According to the Cūrṇi, the dictum: “no living being should be injured” represents the faith aspect of the discipline, which is the right view as predilection for the truth. The practice in accordance with that faith is the practical application of the truth in the life of an ascetic. In the doctrine of the Jina, the right view in this twofold character, viz., predilection and application has been propounded.⁷

4.5 taṃ āiittu ṇa ṇihe ṇa ṇikkhive, jāṇittu dhammaṃ jahā tahā.

Having adopted the vow of non-violence, one should neither hide it nor forsake it. One should know it as it is (and practise it throughout his life.)

Bhāṣyaṃ Sūtra 5

Having accepted the vow of non-violence, that is, the right view as predilection and also as practice, one should not conceal it or abandon it. For instance, some monks, after having accepted the vow of monkhood, run away from the discipline. A monk should observe the discipline for the whole life. The reason is, the discipline should be comprehended just as it is, and, therefore, even the idea of abandoning it is repugnant. Should any self-possessed person, after having appreciated the wisdom, like to abandon it? Only the person of unsettled mind would like to do so. One should not abandon it, but rather he should end his life instead, following the discipline. As it is said in the Daśavaikālika Sūtra: ‘one should rather give up his body than the commandment of the discipline’.⁸

Alternate explanation : The Sanskrit word ‘niha’ meaning concealment can be explained as ‘the killer’. After accepting the vow of non-violence, one should not ‘kill’ the vow, on account of trouble and tribulations that may occur while practising the life of discipline.

4.6 deṭṭhehiṃ ṇivveyaṃ gacchejjā.

One should imbibe disgust towards sensual objects.

Bhāṣyaṃ Sūtra 6

Until and unless the obstructions that lie on the way of pursuing the discipline

of non-violence are avoided, it is not possible to follow the discipline. The first obstruction is sensibleness. 'Sensible' means sense-object such as sound, colour, smell, taste and touch. The person attached to the sensibleness is unable to keep the vow of non-violence. This is embodied in the statement that a follower of non-violence should imbibe disgust for the sensibleness; he should not relish them.

4.7 *no logassesanaṃ care.*

One should not hanker after worldly things.

Bhāṣyaṃ Sūtra 7

The second obstruction to the practice of non-violence is the hankering after worldly things. 'World' stands for the sensual objects. One should not run after such objects. Alternatively, the entire world hankers after the sensual objects; should not then I too engage in the search of them? Such thought is but hankering after the world. A follower of non-violence should not indulge in such hankering. Such hankering leads to indulgence in violence. This is shown in the following passage of the Uttaradhyayana, 5.7-8.⁹

"I shall live as the people live, such is the thought of the inadept. He incurs affliction on account of his lust for sensual enjoyment. As a result, he commits injury to mobile and immobile beings and tortures the creatures with or without any purpose.

4.8 *jassa ṇathie imā ṇāi, aṇṇā tassa kao siyā?*

How could one who has no knowledge of the doctrine of ahiṃsā know about other doctrines?

Bhāṣyaṃ Sūtra 8

One should cultivate disgust for the sensual objects; nor should one indulge in the hankering for worldly things. This is the basic truth of non-violence and spiritualism. A person who has not the knowledge¹⁰ of this doctrine cannot have the knowledge of any other doctrine.

The person who cannot subdue the senses, cannot enter the realm of non-violence.

4.9 *ditṭhaṃ suyaṃ mayāṃ viṇṇāyaṃ, jameyaṃ parikahijjai.*

Whatever has been said about the doctrine of non-violence has been realized, heard of, thought of and discriminated about.

Bhāṣyaṃ Sūtra 9

The Aphorism of non-violence that is explained here has been realized, heard of, thought of and discriminated about.¹¹ ‘Realization’ means directly intuited by pure intuition. ‘Heard of’ means learnt from the omniscient. ‘Thought of’ means well pondered over. ‘Discriminated’ means subjected to shifting knowledge.¹²

4.10 samemāṇā palemāṇā, puṇo-puṇo jāti pakappemti.

People involved and engaged in violence lead themselves to birth again and again.

Bhāṣyaṃ Sūtra 10

Like the birds dwelling on the trees in the night and dispersing in different directions in the morning, everyday people migrating from different species of life live together for sometime and at the end migrate to different forms of life. In other words, they are involved in the cycle of birth and death in different species of life such as one-sensed beings and the like.¹³

4.11 aho ya rāo ya jayamāṇe, vīre sayā āgayapaṇṇāṇe. pamatte bahiyā pāsa, appamatte sayā parakkamejjāsi. - tti bemi.

The heroic ascetic who is forever full of wisdom exerts day and night in the spiritual discipline and visualizes the non-vigilant people standing outside the discipline. Consequently he should ever exert himself being vigilant (self-aware).- Thus do I say.

Bhāṣyaṃ Sūtra 11

Similarly, an aspirant, finding the faults of non-vigilance, becomes enlightened and like a valiant person strives day and night without rest. Finding people recklessly indulging in sensual objects and passions and divorced from the discipline of non-violence, one should forever exert himself without any sort of non-vigilance.¹⁴ Where there is non-vigilance, there must be violence and where there is absence of non-vigilance, there is non-violence without fail. This is the traditionally accepted sequence.

References :

1. Kumārilabhāṭṭena praśnaḥ upasthāpitaḥ - yadi asti sarvajñāḥ tahiṃ śastreṣu kiṃ nāsti ekavākyatā? yadyasti teṣu parasparaṃ vipratipattiḥ tadā katham tatpraṇetāraḥ sarvajñāḥ bhavyeḥ? prastutasūtre trikālavartināmarhatāṃ ekavākyatāṃ pratipādyā iti pradarsatāṃ - arhatā praṇīte śāstre bhinnavā kya-tā vipratipattirvā na syāt.

2. Aṅgasuttāni II, Bhagavaī 2.15 : satvā - jamhā satte subhāsubhehiṃ kammehiṃhiṃ tamhā satte tti vattavvaṃ siyā.
3. Ācārāṅga Cūrṇī, p. 134 : kappadappādīhiṃ sajjhaṃ abhiyogo āṇā, pariggaho mamikāro, tamjahā - mama dāso mama bhicco evamādi, āṇāpariggahāṇaṃ viseso, apariggahitovi āṇappati, pariggaho sāmikaraṇameva.
4. Ibid, p. 134: uddavaṇā māraṇaṃ.
5. (a) Ācārāṅga Cūrṇī, p. 134 : khittaṃ - āgāsaṃ, khittaṃ jāṇatīti khettaṇṇo, taṃ tu āhārabhūtaṃ dav-vakālabhāvāṇaṃ, amuttaṃ ca pavuccati, amuttāni khittaṃ ca jāṇaṃto pācāna davvādini jāṇai, jo vā saṃsāriyānī dukkhāni jāṇati so khettaṇṇo, paṃḍito vā.
 (b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 162 : khedajñaiḥ - jantuduḥkhaṇaricchetṭṛbhīḥ.
 (c) Apte, Kṣetrajñāḥ - The soul, the supreme soul, a witness, dextorus etc.
 (d) See - Āyāro, 3.16 Bhāṣyaṃ.
6. Ācārāṅga Cūrṇī, p. 134 : samiccatti vā jāṇittu vā egaṭṭhā.
7. Ācārāṅga Cūrṇī, p. 134, 135.
8. Cūlikā, 1.17 - caeja dehaṃ na u dhammasāsaṇaṃ.
9. Uttarañjhayaṇāṇi 5.7-8 :
 jaṇeṇa saddhiṃ hokkhāmi, ii bāle pagabbhāi.
 kāmabhogaṇurāeṇaṃ, kesam sampaḍivijjai
 tao se daṃḍaṃ samārabhāi, tasesu thāvaresu ya.
 aṭṭhāe ya aṇaṭṭhāe, bhūyaggāmaṃ vihiṃsaī.
10. (a) Ācārāṅga Cūrṇī, p. 135 : ṇāṇaṃ ṇātī, jaṃ bhaṇitaṃ taṃ annataraiṃdiyarāgadosovayogo jassimāṇatthi annā keṇappa-gāreṇa rāgadoṣaṇātī bhavissati? ahavā save pāṇāna ṇa haṃtavvā jāvaṇa ṇa uddaveyavvā, jassa vā ṇātī ṇatthi tassaṇṇaāram-bhapariggaha-pavittesu pāsamḍesu ṇātī kato sitā? jivājivāti padatthe ṇa yāṇati so kiṃ aṇṇaṃ jāṇissatīti.
 (b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 163 : yasya mumukṣoreṣā jātiḥ - lokaiṣaṇābuddhiḥ 'nāsti' na vidyate, tasyānyā sāvadyārabha-pravṛttiḥ kutaḥ syāt? idamuktaṃ bhavati æ bhogecchārūpām lokaiṣaṇāṃ pari-jihīrṣoḥ naiva sāvadyānuṣṭhānapravṛttirupa-jāyate, tadarthatvāt tasyā iti, yadi vā 'imā' anantaroktatvān prat-yakṣā samyaktvājñātīḥ prāṇino na hantavyā iti vā yasya na vidyate tasyānyā vivekinī buddhiḥ kumārgasāvadyānuṣṭhānapari-hāradvāreṇa kutaḥ syāt ?
 Cūrṇikāreṇa 6-8 sūtrāṇāṃ vaikaliporthaḥ kṛtosti - ahavā

‘ditṭhehiṃ nivvegaṃ gacchijja’ ditṭhā nāma puvvāvarasaṃthutā baṃdhavā jahete ihaṃpi no jaṇavayatidukkha-parittāṇāe kiṃ puṇa paraloe? evaṃ tesuṇivvegaṃ gaccha ‘no ya logesaṇaṃ’ logoṇāma sayāṇo ahavā loga iva logo ṇa ṇicchayato koyi sayāṇo, bhaṇiyam ca - ‘puttopi abhippāyaṃ piṇo esa maggae vā tu’ so sayāṇologo jai icchati uppavvāvetuṃ taṃ tassa esaṇaṃ ṇa care, tattha ālambaṇaṃ jassa ṇatthi imā ṇāti’ jassa ihaloge baṃdhavā ṇa bhavati dukkha-parittāṇāe assa aṇṇesu jātisū kahaṃ dukkhaṃ avaṇessaṃti (Ācārāṅga Cūrṇī, p. 136)

11. Ācārāṅga Cūrṇī, p. 135 : kevaladarisaṇeṇa ditṭhaṃ, sutam duvālasaṃgaṃ gaṇipidaṃgaṃ taṃ, ayariyāo sutametam nāma jaha mama dukkhamasātaṃ tahā aṇṇesiṃ matam, viiha visitṭhaṃ vā nāṇaṃ viṇṇāṇaṃ, parato suṇittā sayam vā cintiā evam viṇṇāṇaṃ ‘jaha mama ṇa piyam dukkhaṃ jāṇiya emeva.’

12. Bhagavāna Mahāvīra has asserted that everyone is endowed with the faculty of independent reasoning. On the basis of this principle he said - “Search for the truth yourself.”

He did not insist that the Doctrine of Non-violence should be practised because it has been enunciated by him. He averred: “Whatever I say about the doctrine has been directly perceived by the Seers, heard from the preceptors, thrashed out by profound reasoning and thoroughly comprehended through contemplation.”

The process of the development of the knowledge consists not in accepting what is propounded by the Seers through direct perception by faith alone, but in hearing, profound reasoning and thorough comprehension.

13. Ācārāṅga Vṛtti, patra 163 : vṛttau vyākhyābhedo vartate - tasminneva manuṣyadījanamāni ‘śāmya-nto’ gārdhenātyarthamāsevām, kurvantaḥ, tathā ‘pralīyamānāḥ’ manojñendriyārtheṣu paunaḥpunyenai-kendriyadvīndriyādikāṃ jātiṃ prakalpayanti.

14. atra Cūrṇau (p. 137) tailasthālapuruṣasya dṛṣṭāntena apramādo vyākhyātaḥ - kahaṃ nāma rāgādidosesu lamchaṇā ṇa hojja? parāṇaṃ parakkame, ettha tellathālapuriseṇa ditṭhaṃti, jahā so appamāyagūṇa maraṇaṃ ṇa patto evam sāhūvi sījhissai.

Some problems raised by the Khāravēla inscription

— Sten Konow

The Hāthīgumphā inscription was noticed as early as the year 1825 by Stirling,¹ who also published a reproduction of an imperfect copy of the record. Later on a better transcript was prepared by Kittoe and read by James Prinsep.² The epigraph has consequently been published by Cunningham,³ Rajendralala Mitra⁴ and Bhagwanlal Indrajī.⁵

The inscription has always been considered as a document of primary importance. It is one of the oldest lithic records of India, and it is of considerable length and apparently contains information about important historical events. The reading and interpretation of the text is, however, beset with great difficulties. The rock itself consists of a coarse sandstone grit which has been very roughly dressed, and the chisel-marks of the dressing are said to be misleading and apt to be taken as letters. The surface has been further damaged by weather and rain and several portions of the record are apparently quite illegible. No wonder that the plates hitherto published are rather unsatisfactory. Kittoe's facsimily is based on a hand-copy, while Cunningham's reproduction has been reduced from a large photograph of a plaster cast taken by Mr. Locke, and this cast has also been used for Bhagwanlal Indrajī's plate, which is, however, besides prepared from an eye copy taken in 1866. Nor is Cunningham's reproduction a purely mechanical one. Dubious passages have evidently been filled up by the hand.

Such were the materials at our disposal until Mr. K.P. Jayaswal took up the study of the inscription. At his request new impressions prepared by Mr. R.D. Banerji in June 1917 and published by Mr. Jayaswal together with his papers, Hāthī-gumphā Inscription of the Emperor Khāra-vela (173 B.C.-160 B.C.)' and 'Hāthīgumphā Inscription revised from the Rock' in the journal of the Bihar and Orissa Research Society, Vol. III, pp. 425 ff., IV, pp. 364 ff. The first of these papers was accompanied by some additional notes from the hand of Mr. Banerji.

Through these publications our understanding of the Hāthī-gumphā inscription has been much advanced, but the interpretation of the record is still far from being satisfactory. Several points have since been discussed, especially by Indian scholars, and with regard to many important questions several divergent opinions have been uttered, and they are still sub judice. We do not even know the exact date of King Khāravēla, the Kālīṅga ruler whose deeds are recorded on the stone. Much ingenuity has been displayed in order to settle this question, but no final result has been reached.

Bhagvanlal Indraji was the first who maintained that the epigraph contains a definite dating in the Maurya era, in 1.16, which he read as follows : Paṭālake Cetake ca Veḍūriyagabhe thabe patīthāpayati panamṭariya-sathivasasate rāja-Muriyakāle vochine ca coyathaaga-satikutariyaṃ cupādayati. His translation of these words runs :.....made pillars in Paṭālaka, Cetaka, and Vaidūryagarbha. And (the victorious and illustrious king Khāravēla) does (this) in the one hundred and sixty-fifth year of the time of the Maurya kings after one hundred and sixty-four years had passed away'.

With regard to the starting point of the assumed Maurya era, which is not known from any other source, the Pandit was of opinion that the beginning was the eighth year of Aśoka, and that for two reasons, (1) that this inscription is of a Kālīṅga king and (2) in his thirteenth edict Aśoka says that he conquered Kālīṅga in his eighth year when there was a huge massacre and millions of men were killed, for which Aśoka expresses his sorrow, but consoles himself with the belief that peace was reigning and religion had spread. Such a conquest forms a suitable epoch of a new era to the people of Kālīṅga, and taking this year as the beginning of

the era, and the date of the accession of Aśoka being now nearly settled, it is possible to finally determine the date of this inscription.

‘Though opinions vary as to the exact year of Aśoka accession, it is settled within the margin of a few years. According to General Cunningham’s calculations, which I believe are most probable, Aśoka’s accession falls about B.C. 263. Thus the eighth year in which he conquered Kalinga and when this era was probably founded, goes to B.C. 255. The date in the inscription when Khāravēla did certain works in the Udayagiri caves in 165 Maurya or (B.C. 255-165) 90 B.C. This is the thirteenth year of Khāravēla’s accession, which gives 103 B.C. as the year of his accession. And as he became heir apparent nine years before, 112 B.C. is the year in which his yauvarājya began. And as the fifteen years previous were passed in boyish sports and amusements, Khāravēla’s birth falls in 127 B.C.’

Buhler⁶ adopted the Pandit’s view that the thirteenth year of Khāravēla corresponds to the year 165 of the Maurya era, but held the opinion that this era begins with the coronation of Candragupta, which he placed between 322 B.C. Khāravēla’s accession should therefore, he thinks, be dated between 170 and 160 B.C.

Buhler’s explanation was generally accepted until the late Dr. Fleet⁷ challenged it and maintained that the inscription did not contain any date. He pointed out that panamṭariya of panatariya cannot mean ‘sixty five that it might mean’ ‘seventy-five but probably represents a Sanskrit prajñaptārya, and further that vochine cannot correspond to Sanskrit vicchinna but is the ‘well-known Jain technical term vocchinna’, which is ‘applied to sacred texts which have been ‘cut off, interrupted’, or in other terms have been neglected or lost sight of : and even apart from other considerations, the use of this term quite prohibits the existence of a date. The record is primarily devoted to acts done by Khāravēla to promote the Jain faith. And while we are not prepared to say just now what may be the exact meaning of the words in which the Pandit found ‘in the 165th year’, we can say that the whole passage does not present any date, but tells us that Khāravēla restored some texts...and the sixty-fourth chapter or other division of the collection of seven Aṅgas, which had been neglected since(?) the time of the Maurya king or kings. Where the Pandit reads saṭhivasa-sate, preparing his lithograph (which is not a

facsimile) to match that, Cunningham's lithograph and reading show sacavasā followed by two illegible syllables... And, if we follow Cunningham's lithograph, we may understand that the words, as written, represent paṃnatt-ariyasacca...., and that the reference is to texts propounding some Jain ariyasaccāni, analogous to the cattāri ariyasaccāni, 'the four sublime truths', of the Buddhists.

Fleet's contention that there is no date in the inscription was endorsed by Luders⁸ and Charpentier⁹, while Jayaswal and Banerji have adopted the view of Bhagwanlal Indraji that it is dated in the Maurya era, though they differ from him in their readings of the text.

It is of little interest to mention the interpretation given by Mr. Jayaswal in his first note, because he has himself abandoned it. In his second paper he reads as follows in 1.16 : Paṭālikocatāre ca veḍūriyagabhe thambhe patiṭhāpayati pānatariyā satasahasehi. Muriyakālaṃ vochimnaṃ (-nem?) ca coyathīgasatikāṃ-tariyaṃ upādāyati, which he translates: 'on the lower roofed terrace (i.e., in the verandah) he establishes columns inlaid with bery] at the cost of 75 hundred-thousand (paṇas). He (the king) completes the Muriya time (era), counted, and being of an interval of sixty-four with a century.'

I understand that Mr. Banerji agrees with Mr. Jayaswal, whose views have further been endorsed by the late Mr. Vincent Smith,¹⁰ Professor G. Jouveau-Dubreuil,¹¹ and Mr. K.G. Śankara Aiyar,¹² while they have been opposed by other scholars such as R.C. Majumdar¹³ and Ramaprasad Chandra¹⁴, who both maintain that the date would, if Mr. Jayaswal were right, be expressed in a very extraordinary way.

Mr. Ramaprasad further objects that Khāravēla, who was not a Maurya but a Ceta, could not naturally be supposed to have used a Maurya era, and that paleographical considerations point to the first half of the first century B.C. as Khāravēla's date. He also informs us that Sir John Marshall¹⁵ is of opinion that the sculptures in the Mañcapuri Cave, in the upper store of which the inscription of Khāravēla's queen is incised', belong to a date considerably posterior to the sculptures at Bharhut. Those latter ones Sir John assigns to the middle of the second century B.C., so far as the railing of the stūpa is concerned while those on the gateway are said to belong to a later date.

Sir John's opinion is bound to carry great weight, and knowing how carefully he examines the facts before he judges. I should a priori be inclined to subscribe to his judgement. But he cannot be made responsible for the way in which he is quoted by Mr. Ramaprasad. So far as I can gather, there are no sculptures in the cave where the inscription of Khāravēla's queen is found. It has formerly been known as the Vaikuṅṭhapurī or Svargapurī cave. Mr. R.D. Banerji, however, maintains¹⁶ that 'it is in reality the upper storey of a cave with two storeys and a side-wing. In the plan printed with the Puri volume of the Bengal District Gazetteer, the whole group is called Mañcapurī'. Mr. Banerji therefore speaks of the inscription in the Mañcapurī cave, upper storey. But it is the lower storey that contains the sculptures, together with an inscription assigning the cave to the Aira Mahārāja, the lord of Kaliṅga, Mahāmeghavahana Vakadepasiri, or, according to Mr. Banerji, Kuḍepasiri. We do not know anything about the date of this king, but his inscription is certainly later than the Hāthīgumphā epigraph. In such circumstances I think we can safely abstract from considering the date of the Mañcapurī sculptures for the purpose of settling the chronology of Khāravēla. I therefore return to the inscription itself.

I agree with Mr. Ramaprasad that Khāravēla, who was not a Maurya, would not be likely to date his epigraph in the Maurya era, the less so because the rule of the Mauryas had ceased before his time. The Purāṇas assign 137 and the well-known Jaina stanzas 108 years to the dynasty, and it would be very extra-ordinary if a possible Maurya era had been used after the dynasty had come to an end. On the whole I think that we are entitled to assume that no royal era was used in India before the first century B.C., when the Indo-Scythian rulers introduced such a reckoning, in all probability in imitation of foreign models.

I further think that Dr. Fleet was right in drawing attention to the well-known fact that vocchinna is a technical term used by the Jainas in order to denote such texts as had been lost sight of.

With regard to the text I cannot adopt the readings suggested by my predecessors in their entirety.

The first akṣaras have usually been read paṭālake, but Mr. Jayaswal gives paṭāliko, which he takes together with the ensuing catare, explaining

paṭālikocatare as the equivalent of a supposed Sanskrit pāṭalika-avacatvare, 'on the lower, roofed terrace.' Pāṭālika he apparently derives from paṭala, roof, thatch, but no such word is known to exist. Nor do I think that the Hāthīgumphā veranda could be called a catvara, and I have grave doubts about the possibility of a compound avacatvara. Moreover, the published plates do not favour the reading paṭālika. Cunningham and Bhagwanlal distinctly have paṭālike, and Mr. Jayaswal's plate has no trace of an i after l, and what he reads as an o looks like a chisel-mark. I therefore think that the old reading paṭālake should be retained and I see in this word the locative of a name denoting some locality. It is impossible to decide whether this word should be constructed with the lost portion of l. 15 or with the ensuing words. I therefore think it safest to leave it out of consideration.

The akṣaras following after paṭālake were read catare ce by Cunningham, cetake ca by the Pandit, while Mr. Jayaswal, who originally read cature ca, now gives catare ca. So far as I can gather from his plate, the u below the t is quite distinct, and I agree with him and the Pandit that the akṣara after re is ca and not ce. If cature is the correct reading, this word can scarcely be anything else than the acc. plur. of the fourth numeral. Then follows tepariyagabhe thabhe (Cunningham), veḍuriyagabhe thabhe (Bhagwanlal) or veḍūriyagabhe thimbhe (Jayaswal). So far as I can see, Mr. Jayaswal's reading is the correct one. The next word is almost certainly paṭiṭhāpayati as read by Bhagwanlal and Jayaswal, though the ā after ṭh is not quite distinct.

Then we read panaṃtamriya (Cunningham), panaṃtariya (Bhagwanlal) or pānatariyā (Jayaswal). The ā mātrā of pā in Jayaswal's plate looks like an accidental mark in the stone, exactly similar dots being found on both sides of the first vertical. I think that the reading pa is certain. What looks like an anusvāra after na seems to be a similar mark. Its position close to the ta makes it unlikely that we have to do with an anusvāra. Nor am I able to agree with Mr. Jayaswal in reading yā. So far as I can see, panatariya is the correct reading.

The following sa is certain, but the ṭhi is absolutely illegible. Cunningham's lithograph, which is based on a cast, distinctly gives ca, and I agree with Dr. Fleet in reading saca, though Mr. Jayaswal now reads sata.

Then follows *vasā....* (Cunningham), or *vasasata* (Bhagwanlal and Jayaswal's first transcript). In his last article, however, Mr. Jayaswal maintains that the stone has *sahase*, which he takes together with the following *akṣaras*, which have hitherto been read as *rāja* but which he takes to be *hi*, thus arriving at *pānatariyā satasahasehi*, at the cost of 75 hundred-thousand. Now I agree with him in thinking that the *akṣara* or *akṣaras* which have been read *vasa* are in reality a misshaped *sa*. I also follow him in reading the following *akṣara* as *ha*, but I think I can detect traces of an *i* above this *ha*, and I agree with the Pandit that the following *akṣara* is *ta* or rather *te*.

I accordingly read the first part of 1.16, after *paṭālake*, which I leave out of consideration, as follows : *cature ca veḍūriyagabhe tha(ṁ) bhe patith(ā) payati panatariyasacasahite*, and he causes four pillars to be erected, studded with beryl, and accompanied (inscribed) with the noble truths taught (by the Jina).

So far I mainly agree with the late Dr. Fleet, and I am just as unable as he was to decide the exact purport of the words mentioning the 'noble truths'.

I then come to the passage containing the crucial words *rajāmuriyakāle*. Mr. Jayaswal definitely states that the stone has *hi* and not *rāja*, but if his own plate can be relied on, that is quite impossible, *rāja* being absolutely distinct and unmistakable. There is, it is true, a comparatively large interval between *rāja* and the following *mu*, but the same is the case before the proper name *Naṁḍa* in 1.6 and before *Bahasatimitaṁ* in 1.12, and such intervals have apparently been used in order to draw attention to the royal names following after them.

Then follows *muriyakolavechinam ca* (Cunningham), *muriyakāle-vochine ca* (Bhagwanlal) or *muriyakālam vochinam (-nem?) ca* (Jayaswal). So far as I can see *muriyakāla* is certain, and I think that Mr. Jayaswal is right in reading the following *akṣaras* as *vochinam ca*. The apparent *e-mātrās* after *na* and *ca* seem to be accidental. After *ca* I read *coyaṭhiaga*. The *ge* in *purisayuge*, 1.3, is different from the final *akṣara* which looks more like the *ga* in *Rājagaha* in 1.8. The *i* of *ṭhi* is, so far as I can see, distinctly traceable.

Then follows *satikatiriyam napādayati* (Cunningham), *satakutariya cupādayati* (Bhagwanlal) or *satikaṁtariyam upādayati* (Jayaswal). The

first word is almost certainly satikaṃtariyaṃ. Benerji reads kuturiyāṃ, but I agree with Ramaprasad Chanda in rejecting this reading. The last word is certainly upādayati.

The whole passage accordingly runs : rājamuriyakālavochiṃnaṃ ca coyāṭhiaga satikaṃtariyaṃ upādayati.

I am absolutely unable to follow Mr. Jayaswal, whose interpretation is also accepted by Mr. Banerji, in finding a date in these words. The meaning assigned to the supposed upādāyati, he causes to terminate, is not warranted, and does not give any proper sense. To cause an era to terminate could not well mean anything else than to abolish it. Nor do I think it possible to translate vochiṃna, 'limited', 'defined', 'counted'. And coyāṭhi-aga-satikaṃtariyaṃ cannot possibly mean, 'being of an interval of sixty-four with a century'. Mr. Jayaswal's interpretation could only be possible under the assumption that Khāravēla's intention had been to express himself in such a way that it should be extremely difficult to understand the meaning, and such is not the practice in ancient Indian inscriptions.

The use of the technical, term vochinna is strongly in favour of the view expounded by Dr. Fleet, that the passage contains a reference to texts that had been lost sight of, but which were restored by Khāravēla.

Now we are told at what period those texts had disappeared, that having happened rājamuriyakāla, in the time of the Maurya king or kings. And here the traditions of the Jainas come to our assistance. We are told that the Saṅgha, during the reign of Candra-gupta, assembled in Pāṭaliputra in order to collect the fragments of the sacred lore, that was on the point of falling into oblivion. The monks succeeded in bringing together eleven aṅgas, but the twelfth, the Dṛṣṭivāda, could not be recovered, Bhadrabāhu, the only one who still knew it, staying away in Nepal intent on carrying out the mahāprāṇa vow. It will be seen that the Jainas speak of texts that were vochinna at the time of the Maurya king Candragupta, and the words in 1.16 seem to confirm this tradition.

Khāravēla is in the inscription said to have restored some of the missing texts, and this statement is also in agreement with Jaina tradition, for we learn that the Dṛṣṭivāda was partly known to later authors, so that we

must infer that it was, at some period subsequent to the Pāṭaliputra council, wholly or partly restored. If my interpretation of I.16 is right, we here seem to have an authentic record of part of this restoration. We hear about a *coyaṭhiaga*, which is characterized as *satikaṃtariya* and which Khāravēla has restored. *Satikaṃtariyaṃ* I would explain as containing the word *sattikā*, Sanskrit *saptikā*, i.e. a treatise comprising seven chapters. Now we know that the *Parikamma*, the first part of the *Dṛṣṭivāda*, contained seven chapters, and I am therefore inclined to think that this is the text mentioned as restored by Khāravēla. *Coyaṭhiaga* would represent a Sanskrit *catuṣṣaṣṭyaṅga*, an *Aṅga* consisting of sixty-four sections. We are told in later texts that the *Parikamma* comprised eighty-three such subdivisions. If I am right in thinking that the *Hāthīgumphā* inscription contains a reference to that text, we must infer that only sixty-four were included in the recension restored by Khāravēla. I have not myself sufficient insight in the vast literature of the Jainas, and I am quite aware of the fact that my interpretation may prove to be open to correction. I think, however, that the most natural translation of the passage is : ‘he restores the sixty-four section *Aṅga*, that had become obsolete at the time of the Maurya king, included in a *saptika*’. At all events, I feel convinced that the passage can only be interpreted in the way indicated by the late Dr. Fleet.

L. 16 thus contains a valuable confirmation of an important point in Jain tradition but no date, and the so-called Maurya era has certainly never existed.

So far I am in entire agreement with Dr. Fleet. But I cannot follow him when he thinks that the inscription can be dated by what it contains in I.11. He maintains that the line speaks of a town that had been ruined 113 years previously, and infers that must have happened when Aśoka conquered *Kaliṅga*, i.e., according to him in B.C. 256. The events mentioned in I.11 refer to Khāravēla’s eleventh year, which would accordingly coincide with B.C. 143.

The correct reading of the beginning of I.11 has not as yet been settled. If we abstract from the first akṣaras, the state of things is as follows : Cunningham’s lithograph has *puvarājanivesātaṃ pithuḍa gadamaṇa-dhedhonakāsaṃyaṃta janam padabhāvana ce terasavase satāka bhidasi*

tāmaradehesapāta; the Pandit's plate puvarājanivesitaṃ pāthudaṃ gadabhanagalenakāsayati janapadabhāvana ca terasavasasata..... data.....maradehasaghāta. Mr. Jayaswal reads pucarājanivesita pīthudagada (la) bhanamgale nekāsayati janapada-bhāvanam ca terasavasasatak-etubhadatitamaradehasamghātaṃ, while his first transcript gives pīthudagadabhanagale and ketubhadatitāmara. Mr. R.C. Majumdar has suggested¹⁷ to read the words following after nekāsayati aṣ janapadabhāvanam ca terasakhasasataṃ katabhadata.....dehasamghātaṃ, 'expels the 1300 Khasas who were a cause of anxiety to the whole community and who injured the body of the ascetics.'

The translations suggested by different scholars present a similar divergence. Cunningham was not able to make out the meaning of the whole passage. Bhagwanlal translates: 'in the city of Gadabha he removed the toll levied by previous kings as also Janapadabhavana, for thirteen hundred years....' Dr. Fleet objects that the record cannot be constructed to mean this. It says, with some supplementary details which are not clear, that he resettled an uḍaṃga=uddaṃga, udraṅga, a 'town' of some kind ? pāmthuddaṃga, 'a market town for the convenience of travellers'; or ? pīthuddaṃga, 'a studying town', which had been founded by former kings, or by a former king, and had been...ruined 113 years previously.' Professor Luders understands the passage to mean that 'in the eleventh year he had some place founded by former kings, perhaps Pithuda, ploughed with a plough, and revived the meditation on the feet of Jina that had not been practised for 113 years.' M. Jayaswal's translation was originally, 'he leads out in procession the nīm-wood formation of the immortal body (i.e. statue) of His Highness Ketu who (flourished) thirteen centuries before.... which has been established by the Former Kings in the City of Pṛthuda-kagarbha and which is pleasing to the Country. In his last note, however, he substitutes the following:, 'he has led out in procession, on the covered seat made by the previous king, of thick and high wheels and timbers, the object of national reputation (or devotion), that immortal statue, in tikta (Nīm) wood, of Ketu Bhadra, who flourished thirteen centuries (back).'

I am convinced that all these readings and translations are wrong. I read the passage as follows, puvarājanivesita(ṃ) Pīthuda(ṃ) gadabhana(ṃ) galena kāsayati janapadabhāvana(ṃ) ou terasavasasatakata bh(i)dati t(ā)

maradeh (ī) sa(m)ghātam, he causes Pithuḍa, which had been founded by former kings, to be ploughed with a donkey-plough and cuts a tawny wall-compound that had been sheltering the inhabitants and was erected in the 113th year.

The reading is, so far as I can see, almost certain. The only akṣara about which I have any serious doubt is hī in dehī, which can also be ha. Mr. Jayaswal reads the final akṣara in namgalena as ne. The position of the apparent e-stroke below the top of the vertical is, however, unusual, cf. Mahāmeghavāhanena, 1.1, and there does not seem to have been any trace of an e in the cast made use of by Cunningham.

I have consulted Mr. Jayaswal about the 'donkey-plough', and he has been good enough to inform me of the existence of a similar term in Hindī: kisī-ke ghar-ko girā-kar gadhe-kā hal calvānā, to throw down somebody's house and plough (the ground) with a donkey-plough. The term is used to denote a through revenge taken over one's enemies, and I am convinced that it fully explains the passage in the Hāthīgumphā record. Mr. Jayaswal does not accept my interpretation because he thinks that nekāsayati is certain and that Khāravela would not be capable of such a cruel act. To judge from the context, however, the events mentioned in 1.11 formed part of Khāravela's operations against the Magadha empire, and, as we shall see later on, there seems to have been a hereditary feud between his dynasty and the Magadha kings. In 1.8 we are told that Khāravela, in his eight year laid siege to Rājagrha. In his tenth year he seems to have made an expedition against Bhāratavarṣa, and the operations in the eleventh year were probably connected with this expedition and should be considered as an act of revenge against the ancient enemies of his dynasty. The war was, according to 1.12, continued the next year, the twelfth of Khāravela's reign. I cannot therefore admit that there is any cogent reason against my interpretation of the passage.

Nor do I think that any serious objection can be raised against my translation of the compound terasavasasatakata, erected in the 113th year. It will be seen from para. 448 of Pischel's Prakrit Grammar that terasavasasta probably means 113 years and not 1300 years, which would be terasavasasatāni, but it can also mean, 'in the year 113.' If we translate '113 years previously' we should have to assume a reckoning back from

Khāravēla's tenth year, and I do not think that such a reckoning is likely. So far as I can see, the year 113 must be the year of some definite era, and we might think of the Maurya era, as has been done by Mr. K.S. Śankara Aiyar¹⁸ with regard to the similar expression *tivasasata* in 1.6. But such an explanation would only be admissible if we had any reason for supposing the existence of such an era in Khāravēla's days, and I hope to have shown that we have absolutely no indication that such was the case.

We must therefore ask ourselves whether the year can be referred to any other known era, and the only ones which we can think of era the two starting from the Nirvāṇa of the Buddha or from that of Mahāvīra, respectively. The opening words of the inscription and the repeated reference to Jainism show that only the latter reckoning can be meant. I therefore infer that the dwellings struck with the donkey-plough were constructed in the year 113 after Mahāvīra's Nirvāṇa.

I have already mentioned that a similar expression occurs in 1.6, where we read : *paṃcame ca dāni vasa Naṃdarājativasasatao(ghā) ṭitaṃ Tanasuliyavāṭā panāḍiṃ nagar(iṃ) pavesa(ya) ti*, and now in the fifth year he has the aqueduct which was shut (or, opened) in the year 103 (during the reign of) the Nanda king conducted into the town from Tanasuliyavāṭā. *Tivasasata* has also here been explained to mean hundred and three (or, three hundred) years previously, but the objection against this explanation is exactly the same as in the case of *terasavasasata*. It would imply a reckoning back from the particular year of Khāravēla's reign, which would, to say the least of it, be very unusual.

With regard to *oghāṭita* I think that Mr. Jayaswal's reference to *avaghāṭita* cannot be maintained, because the *ā* seems to be long. We have to chose between a supposed Sanskrit *apaghāṭita* and *upghāṭita*. I have long been in doubt between these alternatives. In view, however, of the fact that there are indications to show that king Nanda made war against Khāravēla's dynasty, I think the former explanation, which is also shared by Professor Luders, is preferable.

I therefore think that we can safely assume that the Jaina reckoning from the Nirvāṇa of Vardhamana was in general use in Khāravēla's time, and had also been adopted in the royal office.

If such be the case, we can further draw the conclusion that the traditional date of the Nirvāṇa in B.C. 527 can scarcely be correct. Candragupta's accession to the throne of Magadha cannot be placed before B.C. 323, and according to the Purāṇas the rule of the Nandas lasted one hundred years. The dynasty cannot therefore have come into power before B.C. 423, i.e. 104 years after the traditional date of the Nirvāṇa. Now the expedition against Kalinga during which the Tanasuliyavaṭa aqueduct was destroyed or constructed cannot be supposed to have taken place before the Nandas had become firmly established on the throne, and this cannot have been the case 103 years after B.C. 527, i.e. B.C. 424. I do not overlook the fact that some chronological gāthās of the Jainas apparently mention 155 years as the period of Nanda rule, but I think that Jacobi has conclusively proved that there must be a mistake in the gāthās, which are here in disagreement with what we learn from other sources. I shall discuss the contents of the gāthās below, and in this place I shall only point out that, if the years 103 and 113 mentioned in the Khāravēla record must be referred to the Jaina era, as I think they should, they cannot be used for the purpose of settling the question about the date of the inscription.

Nor can any inference be drawn from the mention of Sātakaṇi in 1.4 because we cannot decide which Sātakaṇi is meant. There..... of the date, viz. II. 8 and 12, which record the events in Khāravēla's eighth and twelfth years, respectively.

In 1.8 we are told that the king, after some exploits, laid siege to Rājagrha. I read with Mr. Jayaswal Rājagahaṃ upapīḍāpayati, though Rājagahanapa(ṃ) pīḍāpayati, he harasses the king of Rājagrha, is also possible. For the general purport of the passage it does not make any difference which of the two readings is the correct one. Then follows dhatinaṃ ca kaṃmupadanapanādena paṃbaṃṭa senavāhane vipamacitu Madhuraṃ apayāto navamranāba... (Cunningham), etinaṃ ca kaṃmapadānapanādena savata senavāhane vipamucitu Madhuraṃ apayāto navame ca...(Bhagwanlal), or etinā ca kaṃmapadānapanādena saṃvitasenavāhinīṃ vipamuṃcituṃ Madhuraṃ apayāto yavanarājā Dimata (Jayaswal, according to a private letter).

The first word is, I think, certainly etinā, as read by Mr. Jayaswal. In the word following after ca there is a distinct u under ma both in

Cunningham's and in Jayaswal's plates, but none of them shows an ā after da. We must accordingly read kaṃmupadanapanādena, though Mr. Jayaswal's plate seems to have kaṃmupudana. A Sanskrit utpadana does not, so far as I am aware, exist, but the form would in itself be thinkable. A karmotpadanapraṇāda might be translated, 'the noise, turmoil, rising though the action', though I do not think this explanation quite satisfactory. In the next word the first akṣaras are certainly sa and ba, or rather, so far as I can see, bā. The ta is apparently quite certain according to the lithographs of Cunningham and Bhagwanlal, but I cannot see any ta in Mr. Jayaswal's plate, where the crucial akṣara looks like dhe. I would therefore provisionally read sabādhe.

With regard to the next words Mr. Jayaswal's plate seems to favour Bhagwanlal's reading senavāhane vipamucitu Madhuram apayāto. In the ensuing akṣaras I can see yavanarājā, as read by Mr. Jayaswal, and of his Ḍimata the ma is quite legible. My reading and translation would accordingly be etinā ca kaṃmupadanapanādena sabadhe senavāhane vipamucitu Madhuram apayāto yavanarājā (Ḍi)-ma(ta), and through the uproar occasioned by the action the Yavana king Demetrios went off to Mathurā in order to relieve his generals who were in trouble.

The most important words of the passage are of course the two last ones, and I am inclined to think that Mr. Jayaswal's new reading is absolutely certain. He has also rightly explained Ḍimata as a rendering of the Greek Demetrios, i.e. of course Demetrios, the son of Euthydemos, whose Indian conquests are mentioned by Greek and Latin authors. If we knew when Demetrios returned from his Indian expedition, we should accordingly be in a position to determine the exact date of Khāavela.

We know that Demetrios, when still a young man, negotiated peace between his father Euthydemos and Antiochos the Great in B.C. 205, and that he married the latter's daughter.¹⁹ He is generally considered to have ascended the throne of Bactria about the end of the century.

His Indian conquests are mentioned by Strabo XI.11, I²⁰ who states that he and Menandros were foremost amongst those Indian princes who extended the Greek dominion beyond Ariana.

Demetrios was, according to Strabo, the son of the Bactrian king Euthydemos, and Bactria was the starting point for the conquests through

which he became, as he is called by Justin, king of the Indians. During his absence on his Indian expedition, a rival prince Eucratides made himself master of Bactria and later on defeated Demetrios.²¹ If we compare the account of these events with the statement contained in Khāravēla's inscription, we shall find a general agreement. Demetrios had pushed eastwards, beyond Mathurā, probably with a view of waging war against Magadha. Rumours now reached him about what was going on in Bactria, where Eucratides had ousted his governors, and at the same time he learnt about Khāravēla's operations against Rajagrha. There was danger in front of him, and his base in Bactria was unsafe. He accordingly retraced his steps towards Mathurā in order to open operations against Eucratides and relieve his generals (sabādhe senavāhane vipamu(ṃ) citu[ṃ]).

If we knew exactly when Demetrios returned from India to meet Eucratides, we should accordingly be able to say which year was the eighth of Khāravēla's reign.

Now Justin tells us that Eucratides ascended the throne in Bactria at about the same time as Mithridates in Parthis, and we know that that event took place in B.C. 174.²² We thus arrive at the result that Khāravēla, whose eighth year seems to have coincided with Demetrios' retreat westwards, cannot have ascended the throne before B.C. 182.

Let us now turn to 1.12 of the Hāthīgumphā inscription, which records the events in Khāravēla's twelfth year. We here read Magadhānaṃ ca vipulaṃ bhayaṃ janeto hathī (Cunningham hatha, Bhagwanlal and Jayaswal hathi) Sugamgāya (Cunningham samgamgāya, Bhagwanlal sagamgāyaṃ, Jayaswal sugamgīya) pāyayati Māgadham (Cunningham.. ma, Bhagwanlal magadham) ca rājānaṃ Bahasatimitaṃ (Cunningham bahasatisita, Bhagwanlal bahupatisāṭisā) pāde vaṃdāpayati (Cunningham vādāpamyati). My reading is, I think, absolutely certain, though I admit that Mr. Jayaswal is perhaps right in reading sugamgīya. At all event, Sugamgā or Sugamgī is certainly the ancient Maurya palace in Pātaliputra, which is called Sugāṅga in the Mudrārākṣasa. The operations mentioned in 1.12 were accordingly directed against Pātaliputra, the capital of the Magadha empire.

Bahasatimita, i.e. Sanskrit Brhaspatimitra, was therefore the king of Magadha in Khāravēla's days, and I agree with Mr. Jayaswal that he

must be the same person who is known under the name of Puṣyamitra, the founder of the Śuṅga dynasty, though I am not able to add much to the learned author's argument in favour of this view.

It should be noted that Bahasatimita must have been on the throne at a time when a Greek invader was operating in India, and Puṣyamitra's name is, as well shall see, in a similar way brought into connexion with a Yavana.

Puṣyamitra is mentioned in the Purāṇas and also in the traditionary records of the Jainas and the Buddhists, and his accession to the Magadha throne is usually dated between B.C. 184 and 178. The starting point is the coming into power of the first Maurya emperor Candragupta, which is usually placed in or about B.C. 321, but which Lassen dated in B.C. 315. According to the Purāṇas the rule of the Mauryas lasted 137 years, and Puṣyamitra's accession would accordingly fall between B.C. 184 and 178. His rule lasted for thirty-six years according to the Matsya Purāṇa. The Vāyu and Brahmāṇḍa give sixty instead, but I agree with Mr. Pargiter that ṣaṣṭim sadaiva in these texts is a corruption of something like ṣaṭtriṃśad eva. The period covered by Demetrios' Indian expedition would accordingly fall within his reign, which would, according to the usual reckoning have come to an end in B.C. 148 or 142. I think, however, that it is possible to arrive at a more definite dating.

It is a well-known fact that Puṣyamitra is said to have performed the famous horse-sacrifice, probably in celebration of his ascending the throne of Magadha, after he had finally uprooted the Mauryas. And this celebration is said to have taken place at a time when a Yavana king was conducting operations in India. This information can be gleaned from the Mahābhāṣya and from Kālidāsa's Mālavikāgnimitra.

The former source has been discussed by Sir Ramkrishna Gopal Bhandarkar.²³ Pāṇini III, II, 123, vartamāne laṭ, teaches the use of the present tense to denote present time. The first vārttika to this sūtra adds that the present should also be taught to denote something that has been begun but not been finished : pravṛttasyāvīrāme śiṣyā bhavati. Among the examples given by Patañjali in illustration of this rule Sir Ramkrishna draws attention to the third : iha Puṣpamitraṃ yājayāmaḥ, here we sacrifice

for Puṣyamitra, and rightly infers that Patañjali was engaged in writing the third book of his commentary at a time when a sacrifice extending over a prolonged period was being performed for Puṣyamitra. He is certainly also right in assuming that the reference is to Puṣyamitra's asvamedha.

On the other hand we have the rule Pāṇini III.II.111, anadyatane lañ, the imperfect (is used) to denote what is not of today, where Kātyāyana adds the vārttika parokṣe ca lokavijñāte prayoktur darśanaviṣaye, and (the same tense should be used) about what is beyond the range of sight, but unversally known and capable of being witnessed by the narrator. To illustrate this Patañjali gives two instances : aruṇad Yavanaḥ Sāketam, the Yavana besieged Sāketa, and aruṇad Yavano Madhyamikām, the Yavana besieged Madhyamikā. Of these places Sāketa is another name of Ayodhyā, and Madhyamikā the name of an ancient city in the Udaipur State. It is not of course possible to draw any certain conclusion from the fact that Sāketa is mentioned before Madhyamikā, but the natural inference is that some Yavana ruler during an expedition into India laid siege first to Sāketa and subsequently to Madhyamikā. At all events we must conclude that the operations referred to were taking place about the time when Patañjali wrote the third book of his commentary and they were accordingly contemporaneous with Puṣyamitra's horse sacrifice.

A similar inference can be drawn from Kālidāsa's Mālavikāgnimitra, which is no doubt based on traditionary accounts current in Ujjayinī and adapted to suit the actual situation at the time when the drama was written, when we must infer that the paramount ruler of Magadha, whom I identify with Samudragupta, was going to perform a horse sacrifice, to which he invited his son Candragupta Vikramāditya, the viceroy of Mālava. According to the Mālavikāgnimitra Puṣyamitra, who is here styled senāpati and called Vaidīśa,²⁴ i.e. a man from Vidiśā, the present Besnagar in Mālava, sends an invitation to his son Agnimitra in Vidiśā asking for his attendance at the forthcoming rājayajña, i.e. horse sacrifice. It is further stated that the sacrificial horse, that had been let loose for a period of one year, had been claimed on the right bank of Sindhu by Yavana cavallery (aśvānikena Yavanena). Puṣyamitra's grandson Vasumitra, however, repelled the assault and released the horse.

It will be seen that we have here a corroboration of the inference drawn from the Mahābhāṣya that Puṣyamitra's horse sacrifice coincided with operations undertaken by Yavana conquerors. The river Sindhu mentioned by Kālidāsa is of course the present Sindh, which forms the boundary between Bundelkhaṇḍ and Rājputānā, and if we bear in mind that Madhyamikā was situated in Rājputānā, we must arrive at the conclusion that the Yavana troops which Vasumitra met on the banks of the Sindhu belonged to the forces operating against Madhyamikā.

So far there is a general agreement between all sources. We learn from the Khāavela inscription that a Yavana had pushed eastwards beyond Mathura four years before the Kalinga king humiliated Bṛhaspatimitra, i.e. Puṣyamitra. Patañjali tells us about Puṣyamitra's horse sacrifice as having taken place at the same time as a Yavana expedition against Sāketa and Madhyamikā, and Kālidāsa informs us about an encounter between the guard of Puṣyamitra's sacrificial horse and Yavana soldiers on a river that is not far distant from Madhyamikā. The natural inference is that all these statements refer to the same events.

Now we learn from the Mālavikāgnimitra that Puṣyamitra, at the time of the horse sacrifice, had a grown-up grandson who was old enough to be entrusted with the guarding of the sacrificial horse. He cannot therefore himself have been much less than about sixty years of age, and cannot have ruled thirty-six years after that date. The horse sacrifice must accordingly have taken place towards the end of his reign, and the fact that he is styled senāpati by Kālidāsa and senānī in the Purānas raises the question whether he had really become emperor of Magadha at an early stage of his career. We would be inclined to think that the horse sacrifice should properly be assigned to the last years of his life, i.e. according to the current opinion some time before B.C. 149 or 142.

If however the Yavana king mentioned in Khāavela's inscription is really Demetrios, the date of the aśvamedha would be about B.C. 174. There is accordingly here a certain discrepancy. I think, however, that it can be satisfactorily explained.

It is a well-known fact that the date usually assigned to Puṣyamitra is in disagreement with information which can be deduced from another source. Merutuṅga and other Jaina authors have preserved some Prakrit

gāthās containing certain statements about kings and dynasties intervening between Mahāvīra's Nirvāṇa and the introduction of the Vikrama era. These stanzas run as follows-

jaṃ rayañiṃ kālagao arihā titthaṃkaro Mahāvīr(o)
taṃ rayañiṃ Avantivaī ahiṣitto Pālago rāyā.

Saṭṭhī Pālagaraṇṇo paṇavaṇṇasayaṃ tu hoi Nandāna
aṭṭhasayaṃ Muriyāṇaṃ tūsaṃ cia Pūsamittassa.

Balamitta-Bhānumittā saṭṭhī varisāṇi catta Nahavahaṇe
taha Goddabhīllarajjaṃ terasā varisa Sagassa cau,

In the night when the Arhat, the Tirthaṃkara Mahāvīra died, in that night the Avanti-lord Pālaka was anointed.

Sixty (are the years) of king Pālaka, but one hundred and fifty-five (those) of the Nandas, one hundred and eight (those) of the Mauryas, and thirty (those) of Puṣyamitra.

Balamitra and Bhānumitra (ruled) sixty years, Nahavahana forty, and so the rule of Gardabhīlla (lasted) thirteen, (that) of the Śaka four.

These stanzas have been discussed by Jacobi,²⁵ Charpentier,²⁶ and others, and there seems to be a general agreement about their interpretation. There is an apparent disagreement between the second gāthā and the tradition embodied in Hemacandra's *Parīśiṣṭaparvan*, where it is stated in VI.243 that Nanda became king sixty years after the Nirvāṇa, and in VIII 339 that Candragupta's accession took place 155 years after that same event. It is generally assumed that there is a misunderstanding in the gāthās, and that the period of 155 years there allotted to the Nandas comprises the whole period from the Nirvāṇa to the accession of the Mauryas. And we are now in a position to see how this misunderstanding has crept in. We learn from the Khāravela inscription, if my interpretation is correct, that the earliest way of dating important events with the Jainas was to state the number of years elapsed since the Nirvāṇa. On the other hand we must infer from the *Purāṇas* that it was usual in India to sum up the duration of individual reigns and of the rule of different dynasties in memorial verses, and it is evident that this practice was later on taken up also by the Jainas. Hence the apparent discrepancy, which is, however, of no consequence for the present discussion.

It has been pointed out by Jacobi that the stanzas place the accession of Candragupta in B.C. 312 and that of Puṣyamitra in B.C. 204, while the latter king's rule is stated to have come to an end in B.C. 174. It will be seen that these dates do not agree with what we have inferred from other sources, but the disagreement is, I think, only apparent.

It has usually been assumed that the Jaina gāthās are meant as a chronology of Magadha kings. The fact, however, that the first and last rulers mentioned in them belong to Mālava and not to Magadha, shows, I think, that such cannot be the case. The gāthās are in reality meant as an enumeration of the rulers of Central India between the Nirvāṇa and Vikramāditya. If such be the case, everything becomes clear and consistent. Puṣyamitra, who is, as we have seen, called a Vaidiśā in the Mālavikāgnimitra, started on his career as senāpati or senānī, i.e. general of the Maurya forces and governor of Mālava, which had been subdued by Candragupta in B.C. 312. After having ruled there thirty years he rose against the Mauryas and made himself ruler of Magadha. He was then already advanced in years, he had a grown-up grandson, but he did not change his ancient title of senāpati before he ousted the Maurya's in Magadha. From the fact, however, that the Jainas consider him as the real ruler of Mālava, we must infer that he had made himself practically independent of Magadha at an early date, before he started on the operations that led to the overthrow of the Maurya dynasty.

But if such be the case, he cannot possibly have ruled in Magadha for thirty-six years, as stated in the Purāṇas. That period must comprise his rule as semi-independent viceroy in Mālava, and it is allowed to draw the inference that his rule came to an end thirty-six years after his accession in Vidiśā, i.e. in B.C. 168.

We have accordingly found that Khāravela's eighth year cannot fall before B.C. 174, and his twelfth year, in which he humiliated Puṣyamitra, cannot be placed after B.C. 168. His accession must accordingly be dated between B.C. 182 and B.C. 180, a more definite date than what we are accustomed to be able to determine for the accession of ancient Indian rulers.

In this connexion I wish to point out that the results arrived at above necessitate a redating of Patañjali's Mahābhāṣya. Gold-stucker and everybody after his time have taken it for granted that the Yavana ruler

alluded to by Patañjali was Menander, because it has been inferred from Strabo that he reached the Yamunā on his Indian expedition. Now Strabo speaks of Isamos and not of Yamunā, but it is of course very likely that Lassen was right in his emendation of the passage, reading Yamunā into the text. But then Sāketa is a long way to the east of the Yamunā, and there is absolutely no information to the effect that Menander transgressed that river. Strabo remarks that he crossed the Hypanis, which may be the Hyphasis, but he does not make a similar remark with regard to the Yamunā. And if Demetrios is really mentioned in the Khāravala inscription, we must necessarily infer that he was the ruler who according to Patañjali besieged Sāketa and Madhyamikā. In other words, Patañjali wrote the third book of his commentary about B.C. 174.

If Khāravala was anointed king in or a little before B.C. 180, he must have been born in or a little before B.C. 205, for we are told in II.2-3 that, after having completed his twenty-fourth year, he was anointed mahārāja in the third generation of the royal family of Kālīṅga, tatiye kaliṅgarājavase (or-vaṃsa) purisayuge mahārāj(a) bhisecanam pāpunāti. I think it unnecessary to discuss the various readings suggested of this passage, because they do not affect the sense, in which I am, for the present, solely interested. I shall only mention that the words have been considered by Mr. Jayaswal to imply that Khāravala's line was the third royal dynasty of Kālīṅga. I do not, however, think that purisayuge can mean, as suggested by him, 'for a generation', or, as the compound has been translated by Mr. R.C. Majumdar²⁷, 'in the make line'. It must, I think, mean, as it was translated by Professor Luders, 'in a generation', and it must be taken together with tatiye. If the correct reading is vaṃsa, the compound ending with that word forms a new compound with purisayuge; if kaliṅgarājavamse proves to be the correct reading, we must translate. 'within the royal lineage of Kālīṅga'. At all events, Khāravala was the third king of his dynasty, and if we assume a duration of thirty years for each of the two preceding generations, we arrive at the result that the dynasty came into power about B.C. 240, i.e. about fifteen years after Aśoka's conquest of Kālīṅga. I think that we can safely infer the Khāravala's family rose to power about the time of Aśoka's viceroy in Tosali, who later on made himself independent of Magadha.

It has usually been assumed that the name of the dynasty was Ceta, while its members used the titles and designations aira, mahārāja and

mahāmeghavāhana, which terms are used both in the Hāthīgumphā and in the Mañcapurīgumphā inscriptions (Luders, No. 1347). This assumption is mainly based on the beginning of Khāravēla's epigraph, and it will be necessary to examine the opening passage in some detail in order to ascertain whether the current opinion is correct.

After an invocation of the Arhats and Siddhas, namo arahamṭānaṃ namo savasidhānaṃ the inscription begins as follows *airena mahārājena mahāmeghavāhanena Cetirājavasavadhanena pasathasubhalakhanenācaturamṭaluṭhunaguṇopa(hi) tena kaliṃgādhipatinā siri Khāravēlena (1.2) paṃdarasavasāni sir(i) kaḍārasarīravatā k(i)ḍitā kumārakḍikā.*

The first word was read *verena* by Prinsep and Bhagwanlal, and R.D. Banerji has maintained that it should be read *kharena*, but *kha* is quite different from the first akṣara, as will be apparent from an examination of the word *Khāravēlena* at the end of the first line, to which Mr. Banerji refers us. The reading *airena* is certain, and the diphthong *ai* here no doubt represents a dissyllabic *aī*. The same word is, as I have already mentioned, also used in the Mañcapurīgumphā inscription, and it is found in one of the Amarāvati inscriptions (Luders, No. 1276). Professor Luders has explained it as corresponding to Sanskrit *ārya*, and this explanation seems to be the most likely one in the case of the Amarāvati epigraph. In the Hāthīgumphā and Mañcapurīgumphā inscriptions, on the other hand, the state of things has been thought to be different, because the word *aīra*, as we shall see below, is used in an old manuscript as a common designation of ancient Kalinga kings. Mr. Jayaswal therefore suggests another explanation: 'As Mr. Banerji points out in his note, Khāravēla's kula (family) is described in the last line of the inscription to have come out of a Rāja-rishi stock (*vaṃśa*). This denotes that king Cheta's family must have been a branch of some well-known dynasty of the Aryavarta. This leads me to suspect that *aira* might be representing *aila*, the famous dynasty of early Hindu India'. I am unable to adopt this suggestion, because the substitution of *ṛ* for *l* could not be accounted for. *Aira* can of course be explained as a metronymic from *Irā*. On the whole, however, I think that Professor Luders' explanation is the most probable one, and Mr. Jayaswal also adduces arguments in favour of this view. *Aira* might, as he says, be taken, as indicating the ethnic difference of Khāravēla from his subjects. His subjects were mostly Dravidians, or the mixed

Arya. The same tendency is visible amongst the Aryan Brahmans in the Dravidian South who call themselves Arya (aiyar, plural of aiya)'.

The title mahāmeghavāhaṇa can, as pointed out by Mr. Jayaswal, be explained as a synonym of mahendra. It is, however, probable that the designation has something to do with Megha, the name of an ancient dynasty in Kośala.²⁹

The reading Ceti is, I think, absolutely certain, and both Mr. Jayaswal and Dr. Thomas, who have examined the inscription in situ, have informed me that they accept it. The Ceta-dynasty, which has been inferred from the old reading Ceta-accordingly disappears, and it is unnecessary to discuss the various explanations given of the word. Ceti, on the other hand, is the well-known Pali form of the usual name Cedi.

The Cedis were reckoned as Haihayas, and Haihayas and Kaliṅgas are also collocated in the Puranic lists of ancient dynasties. The stronghold of the Cedis in historical times, however, was in the so-called Central Provinces. In later days the Cedi empire was divided into two countries, Western Cedi with its capital at Tripura near Jabalpur, and Eastern Cedi or Mahākosala, with its capital at Ratanpur.³⁰ It is a priori likely that the Kaliṅga line had come from Eastern Cedi, and it is in the connexion worth while recalling the fact that also the designation Mahāmeghavahana perhaps points towards Kośala, i.e. Mahākośala.

In what follows after Cetirājavasavadhanena my predecessors have failed to notice the a-mātrā after the final n-in-lakhanenā and the a after l in luṭhuna, for which Mr. Jayaswal kindly informs me that we ought to read luṃṭhuna. The sense remains the same, the king's virtues are said to wallow, to extend, to the four quarters. Instead of- opahitena Mr. Jayaswal now reads- opapitena. I think, however, that what he reads as pi is in reality a misshaped hi.

In sirikaḍara the i has hitherto been read as i, but I think that the short vertical to the left belongs to the vowel-sign, in which case we must read sirī. Instead of - kaḍāra-Bhagwanlal read kumāra, which is, however, inadmissible. Mr. Jayaswal in his first note read - kāḍāra, and such is the reading according to his plate. His correction into - kaḍāra- in his second paper is, however, based on a careful examination of the original, and I

think that it can safely be accepted, because Cunningham's and Bhagwanlal's lithographs present the same reading. In my explanation of the word, however, I differ from Mr. Jayaswal, who translated, 'fair-brown'. I do not think that Khāravēla's complexion would be likely to be mentioned. I explain kaḍāra as corresponding to kaṭāra, which according to the Śabdamalā means nāgara and kāmin. Sirī-kaḍāra is the lover of Śrī, i.e. Kṛṣṇa, and Khāravēla's boyish games are compared with Kṛṣṇa's pranks and sports in Vṛndāvana.

I accordingly translate the opening passage as follows : 'by the Aryan great-king, the great Meghavāhana, the increaser of the royal Ceti lineage, of exalted auspicious marks, provided with virtues famous to the four ends (of the word), the overlord of Kālīṅga, the illustrious Khāravēla, boyish games were played for fifteen years, his body being (like) that of Śrī's lover'.

Khāravēla's family accordingly belonged to the Cedi lineage, and even if the family, or tribe, was descended from the Cedis mentioned in the Ṛgveda, the Hāthīgumphā record contains the first authentic reference to it as a royal dynasty. We are told that Khāravēla was the third ruler of the Kālīṅga line, and I have already remarked that we must infer that the family came into power in Kālīṅga after Aśoka's conquest.

Now Mr. Jayaswal has³¹ drawn our attention to the existence of an old Oriya manuscript in the Indian museum, which contains some śloka about the Aīras of Utkala, i.e. apparently the same royal line to which Khāravēla belonged :

Ahiro nāma rājabhūt cOtkale vidyate (vidite?) purā/
ahimsādharma aśritya buddhadharmaparāyaṇaḥ // 1

Nandarāja(h) suvikhyāta(h) Magadhe vidyate tadā/
sākarapāśako Nanda(h) (-ndo) vedadharmaparāyaṇaḥ // 2

Nandasya sahito yuddhe Aīro jitavān bhavet. /

Aīro jayam āpnoti mahāhr̥ṣṭena mānasaḥ. /

svadharmā (-rme) cOtkale khyāti(h) (-tim) vedadharmavināśakaḥ // 3

Aśokasya mahāmitra(h) Aīra(h) Utkaleśvaraḥ. /

Ekaprastarakhaṇḍe tu purāṇaḥ parvatottamaḥ. /

Khaṇḍagir(i)ti nāmāsan(-āsīt) pavitra(ś) cOtkale bhuvī. // 4

Nivāsakaraṇārthāya daivavāṇī tu prāptavān./
asmin nivāsata rājan yāvat tiṣṭhati medinī/
tāvatkālasuparyyantah(-tā) tava kirtti(r) virājate.//5

Daivavāṃsrute Airah(-ro) harṣanirbharamānasaḥ/
Kosalānagaraṃ tyaktvā Khaṇḍasailasamīpatu(-gaḥi)//6

The text is rather corrupt, and I shall not make any attempt at correcting it throughout. Mr. Jayaswal thinks that, the substance of the verses....can be gathered as follows:-

- (a) That Kalinga had been conquered by the kings of Magadha, and that it was liberated by one aira (king) who defeated a Nanda king of Magadha.
- (b) That the Nandas were Vedic, orthodox Hindus; and the Aira was heterodox (Jain or Buddhist).
- (c) That the Aira was a great enemy of Aśoka.
- (d) That the former capital of the Aira was Kośalā (South Kośala) and that the Aira removed his capital to the Khaṇḍagiri at 'Eka-Prastara' spot.

He further remarks that the Airas must have founded their capital in the Khaṇḍagiri before the conquest by Aśoka, because 'it is to be noticed that the capital of Kalinga before Aśoka and after the Nandas is called Parthali (by Megasthenes) which corresponds with the Prastara of our MS. By its location in the Khaṇḍagiri, it seems to have been identical with Dhauli (Toshali)'.

I cannot subscribe to all these statements. The first stanza only informs us of the existence of a rāja called Ahira, i.e. Aira, in Utkala, i.e. Kalinga, who was a Jaina. That he belonged to that religion and was not a Buddhist is, I think, evident from the stress laid on ahimsā. It is not stated that he was king of Kalinga, he can just as well have been a petty chieftain. We are further told that he was a contemporary of the Magadha king Nanda, whom he fought and defeated, whereafter he acquired fame within his religion in Utkala.

The tradition embodied in these verses is in agreement with that we can infer from the Hāthīgumphā inscription, where there is more than one reference to an expedition undertaken by king Nanda against Kalinga.

We can also accept the statement contained in the manuscript that the Nanda king was unsuccessful in his attempt, because Kalinga is said in Aśoka's thirteenth edict to have been avijita when he made his conquest. Mr. Jayaswal justly remarks that the stanzas cannot throughout refer to one and the same person, and that Aira was a designation used by a series of kings and princes. But he is certainly not right when he states that the second Aira was an enemy of Aśoka. Aśokasya mahāmittraḥ must mean a great friend of Aśoka, and what follows contains, so far as I can see, the information that this Aira, who was, or became, king of Kalinga, Utkalesvara, was advised by a deity to remove his capital to Khaṇḍagiri from Kosalā. I agree with Mr. Jayaswal that Kosalā denotes the capital of Mahākośala, and I also think that he is right in identifying the new capital with Tosali. According to the Dhauli version of the second detached edict of Aśoka a royal prince, kumāle, resided in Tosali, and if the information contained in the Oriyā manuscript is trustworthy, we may infer that Aśoka had appointed an Aira as viceroy in Tosali, and that he became independent as Utkaleśvara, king of Kalinga. Khāravēla, who was anointed in the third generation of his lineage, would accordingly have to be considered as the grandson of this Aira, and his expedition against the Magadha empire should be considered as an act of revenge for the devastations wrought by king Nanda in his unsuccessful attempt at subjugating Kalinga.

There still remain several passages in the Hāthīgumphā inscription which cannot be satisfactorily explained. The materials at my disposal are not, however, sufficient for a thorough examination of all details. For the present I must be content at summing up the results of the above discussions:

There is no date in the Khāravēla inscription, but it contains an important corroboration of the Jaina tradition about the Pāṭaliputra council and the impossibility of then recovering the whole canon.

The record contains two references to the Jaina era, which show that the reckoning from Māhavīra's Nirvāṇa was, in Khāravēla's days, used even in the royal office. One of them further shows that the traditional date of the Nirvāṇa in B.C. 527 cannot be right.

There is a reference to the Greek conqueror Demetrius, which makes it possible to settle the question about Khāravēla's date within narrow limits,

and which also necessitates a readjustment of the date of the Mahābhāṣya. Compared with notices contained in Jaina and Brahmanical sources this reference further enables us to fix the date of the accession of the ūṅga dynasty.

The inscription is the oldest epigraphical reference to the Cedi dynasty, to which Khāravēla belonged, and we may infer that it had immigrated into Kālīṅga from Mahākośala. Its rulers used the designation Aira, and an Aira was probably Aśoka's viceroy in Tosālī, where his family later on ruled as independent kings, Khāravēla being the third king in direct succession.

References :

1. Asiatic Researches, Vol. XV, pp. 313 f.
2. JASB., Vol. VI, pp. 1075 ff., and Plate LVIII.
3. Corp. Inscr. Ind., Vol. I, pp. 27 f., 98 ff., 132 f., and Plate XVII.
4. Antiquities of Orissa, Vol. II, pp. 16 ff., with facsimile.
5. Actes du sixieme Congres international des Orientalistes, Pt. III, section 2, pp. 133 ff.
6. Ep. Ind., Vol. II, pp. 88 f.
7. JRAS, 1910, pp. 242 ff., 824 ff.
8. A List of Brahmi Inscriptions, No. 1345.
9. Ind. Ant. 1914, P. 170n.
10. JRAS, 1918, pp. 543 ff; 1919, p. 399.
11. Ancient History of the Deccan, Pondicherry, 1920, P. 12.
12. Ind. Ant. 1920, pp. 43 ff.
13. Ind. Ant. 1918, pp. 223 f., 1919, pp. 187 ff.
14. Memories of the Archaeological Survey of India, No. 1, Calcutta 1919; Ind. Ant. 1919, pp. 214 ff.; JRAS. 1919, pp. 395 ff.
15. See now his remarks in The Cambridge History of India, Vol. I, pp. 624 ff., 638 ff.
16. Ep. Ind., Vol. XIII, p. 159.
17. Ind. Ant., 1919, p. 190.

18. Ind. Ant. 1920, pp. 43 ff.
19. See Benedictus Niese, Geschichte der griechischen und makedonischen Staaten seit der Schlacht bei Shaeronea, V ol. II, p. 401.
20. *Τουούτον δὲ ἴαχυσαν οἱ ἀποστήσαντες Ἕλληνας αὐτὴν διὰ τὴν ἀρετὴν τῆς χώρας, ὥστε τῆς Ἀριανῆς ἐπέκρατον καὶ τῶν Ἰνδῶν, ὡς φησὶν Ἀπολλόδορος ὁ Ἀρταμιστινός, καὶ πλείω ἔθνη κατεστρέψαντο ἢ Ἀλέξανδρος, καὶ μάλιστα Μένανδρος (εἶγε καὶ τὸν Ὑπανὴν διέβη πρὸς ἑαυτὸν καὶ μέχρι τοῦ Ἰσάμου προῆλθε), τὰ μὲν γὰρ αὐτῶς, τὰ δὲ Δημήτριος ὁ Εὐδυσδήμων υἱὸς τοῦ Βακτριῶν βασιλέως, οὐ μόνον δὲ τὴν Παιταληνὴν κατέσχον, ἀλλὰ καὶ τῆς Ἑλλῆς παραλίης τὴν τε Τεσσαροῖστον καὶ τὴν Σιγέριδος βασιλείαν. Καθ' ὅλου δὲ φησὶν Ἰκείνος τῆς συμπάσης Ἀριανῆς πρόσχημα εἶναι τὴν Βακτριανήν.*
21. Cf. Justin XLI, 6 : Eodem ferme tempore, sicuti in Parthis Mithridates, ita in Bactris Eucratides, magni uterque viri, regna incunt... Multa tamen bella Eucratides magna virtute gessit : quibus attritus, quum obsidionem. Demetrii regis Indorum pateretur, cum trecentis militibus sexaginta millia hostium assiduis eruptionibus vicit. Quinto itaque mense liberatus Indiam in potestatem redegit.
22. See Justi, Grundriss der Iranischen Philologie, Vol. II, p. 485.
23. Ind. Ant. Vol. I, pp. 299 ff.
24. This is certainly the correct reading, which has been adopted in the edition of Kāśināth Pāndurang Parab, Bombay, 1890, P. 103.
25. Kalpasutra, Introduction, pp. 7 ff.
26. Ind. Ant. 1914, pp. 118 ff.
27. Ind. Ant. 1919, p. 188
28. Ep. Ind., Vol. XIII, p. 160.
29. Cf. Pargiter, The Purāṇa Text of the Dynasties of the Kali Age. Oxford, 1913, p. 51.
30. See Vincent Smith, The Early History of India, 2nd edition, p. 360.
31. JB & ORS, Vol. III, pp. 482 ff.

अहिंसक जनतंत्र की कल्पना

- ◆ व्यक्ति स्वातंत्र्य का विकास
- ◆ मानवीय एकता का समर्थन
- ◆ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व
- ◆ शोषणमुक्त व नैतिक समाज की रचना
- ◆ अन्तरराष्ट्रीय नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना
- ◆ सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण के सामूहिक प्रयत्न
- ◆ मैत्री व शान्ति संगठनों की सार्वदेशिक एकसूत्रता

- अनुशास्ता आचार्य तुलसी